समस्यामूलक उपन्यासकार

प्रेमचन्द

लखक

डा० महेन्द्र भटनागर

एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी।

भूमिका

डा० महेन्द्र भटनागर की पुस्तक "समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द" पढ़कर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। भटनागर जी ने प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन और मानवतावादी पक्ष का बहुत उत्तम विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि "प्रेमचन्द मानवतावादी लेखक थे। गांधीवादी या साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्होंने सीधी प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उन्होंने जो कुछ जाना, सीखा, लिया, वह सब अपने अनुभव मात्र से। इसीलिये उनके साहित्य में अपरास्त शक्ति है। गांधीवाद और साम्यवाद कोई मानवता के विरोधी नहीं हैं, अतः प्रेमचन्द के विचारों मे जगह-जगह दोनों की झलक मिल जाती है। लेकिन उनका मानवतावाद सर्वत्र उभरा दीखता है।" यह मानने मे तो शायद कठिनाई अनुभव की जाय कि प्रेमचंद गांधीवादी या साम्यवादी सिद्धान्तों से कभी प्रभावित ही नहीं हुए परन्तु यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रेमचन्द पूर्णरूप से मानवतावादी थे। उन के उपन्यासों में और लेखों में जड़-संपत्ति मोह—चाहे वह परंपरा प्राप्त सुविधा के रूप में हो, जमींदारी या महाजनी वृत्ति का परिणाम हो, या उच्चतर स्तर के पेशों से उपलब्ध हो, मानव की स्वाभाविक सद्‌वृत्तियों को रुद्ध करता है। प्रेमचन्द ने सच्चाई और ईमानदारी को मनुष्य का सबसे बड़ा उन्नायक गुण समझा है। प्रेम उनकी दृष्टि में पावनकारी तत्त्व है जब वह मनुष्य में सचमुच उदित होता है तो उसे त्याग और सच्चाई की ओर उन्मुख करता है। भटनागर जी ने बड़ी कुशलतापूर्वक प्रेमचन्द की इस मानवतावादी दृष्टि का विश्लेषण किया है। उनका यह कथन बिल्कुल ठीक है कि "प्रेमचन्द ने 'औद्योगिक नैतिकता' का वर्णन कर के उद्योगपतियों की मनोवृत्ति के विरुद्ध जनमत तैयार किया है।" उन्होंने उस मूक जनता का पक्ष लिया है जो दलित है, पेषित है और निरुपाय है। पुस्तक में प्रेमचन्द के उपन्यासों और लेखों का उद्धरण देकर उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण किया है।

प्रेमचन्द जी साहित्य सर्जक थे। उन्होंने केवल पात्रों के मुँह से ही विचार नहीं व्यक्त किए हैं बल्कि पात्रों और घटनाओं के जीवन्त गतिमय संघटना के द्वारा अपने मत की व्यञ्जना की है। भटनागर जी ने इस पहलू पर अधिक ध्यान नही

दिया है। वे सीधे प्रेमचन्द की कलम से निकले हुए विविध प्रसंगों के उद्गारों से ही अपने वक्तव्य का समर्थन करते हैं। उनके निष्कर्ष स्वीकार योग्य हैं, परन्तु साहित्य के विद्यार्थी की सभी जिज्ञासाओं को वे सन्तुष्ट नहीं करते। ऐसा जान पड़ता है कि समस्याओं का स्वरूप स्पष्ट करके प्रेमचन्द के उद्गारों से उनके समाधान की ओर इंगित करना ही उनका लक्ष्य है। इस कार्य को उन्होंने बड़े परिश्रम और कौशल से सम्पन्न किया है। इस दिशा में उनका प्रयत्न सफल हुआ है।

• पुस्तक बहुत उपयोगी हुई है। प्रेमचन्द के विचारों को उन्होंने बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता के साथ व्यक्त किया है। मुझे आशा है कि साहित्य-रसिक और समाज-सेवी इससे समान रूप से आनन्द पा सकेंगे। हमारे देश की बहु-विचित्र समस्याओं का इसमें उद्घाटन हुआ है और प्रेमचन्द जैसे मनीषी का दिया हुआ समाधान इससे स्पष्ट हुआ है। भटनागर जी से और सुन्दर रचनाओं की आशा सहृदयजन करेंगे। मेरी शुभकामना है कि परमात्मा उन्हें दीर्घ जीवन, सुन्दर स्वास्थ्य और अधिकाधिक शक्ति प्रदान करें।

—**हजारीप्रसाद द्विवेदी**
(अध्यक्ष—हिन्दी - विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

२४.११.५७

विषय—सूची

विषय **पृष्ठ–निर्देश**

समस्यामूलक उपन्यासकार

प्रेमचन्द

प्रवेशक

सर्वप्रथम प्रस्तुत प्रबन्ध के शीर्षक में प्रयुक्त 'समस्यामूलक' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। 'समस्या-प्रधान' और 'समस्यामूलक' शब्दों के शास्त्रीय अर्थ में अन्तर है; लेकिन विरोध नहीं है। प्रस्तुत प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध प्रेमचंद के उपन्यासों में उठाई गई समस्याओं से है; जिनके कारण प्रेमचन्द के उपन्यास समस्यामूलक अथवा समस्याओं के उपन्यास बन जाते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य के प्रमुख आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों को समस्यामूलक या समस्या-प्रधान नहीं मानते। सामाजिक उपन्यास और व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास नामक दो कोटियों में वे उनके उपन्यासों की गणना करते हैं। मेरा इससे तात्त्विक मतभेद है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास सामाजिक हैं, पर उनकी सामाजिकता किसी न किसी समस्या पर ही आधारित है। प्रेमचन्द का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जिसमें किसी समस्या को न उठाया गया हो। वस्तुतः वे समस्यामूलक उपन्यासकार ही थे। यहाँ तक कि किसी-किसी उपन्यास में तो अनेक समस्याएँ प्रधान-समस्या के साथ बराबर दौड़ती हैं और छोटी-छोटी समस्याओं की ओर तो लेखक का ध्यान सदैव ही बना रहता है। जहाँ भी अवसर मिला है प्रेमचन्द इन समस्याओं को बिना छुए नहीं रहे हैं। मेरी धारणा है कि प्रेमचन्द के समस्त उपन्यासों का उद्देश्य केवल हिन्दुस्तान की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत करना रहा है। समस्याओं का प्रश्न प्रधान है। शेष बातें समस्याओं को ही केन्द्र मानकर बढ़ती हैं और संकुचित होती हैं। समस्यामूलक उपन्यास में उपन्यासकार का लक्ष्य केवल समस्या को रखने और उसे सुलझाने या ज्यों की त्यों छोड़ देने की ओर रहता है। उपन्यास के अन्य सामान्य तत्त्व उसकी रचना में बिखर जाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी हमें यही बात मिलती है। बिना इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखे प्रेमचन्द के उपन्यासों का शास्त्रीय अध्ययन करना असंगत होगा। प्रेमचन्द पर कुछ आलोचकों ने 'प्रचारवादी' होने का आक्षेप लगाया है। यह आक्षेप बिना उनके मूल उद्देश्य को समझे किया गया

गाय है । प्रेमचन्द ने अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध में साहित्य और प्रचार के सम्बन्ध में लिखा है--

"जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है---इसमें कोई सन्देह नहीं । लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता । यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो । यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं । वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं, अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं । मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिये लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिज़रेबुल', टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए भी उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ । आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं ।"[१]

साहित्य और प्रचार के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के उपर्युक्त विचार इस बात की पुष्टि करते हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय जन-जीवन की समस्याओं को, विचार-प्रधान उपन्यासों के माध्यम से, प्रस्तुत करना था । वे अपने युग की समस्याओं को समझते थे और उन्हीं को लेकर उपन्यास-क्षेत्र में आए । देश की विभिन्न समस्याओं पर वे अपने विचार स्वतंत्र लेखों में भी व्यक्त कर सकते थे । लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया । विचारों का प्रचार एवं समस्याओं के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिये किसी कलात्मक माध्यम की आवश्यकता होती है । प्रेमचन्द ने यह कलात्मक माध्यम कथा-साहित्य चुना । यह बहुत कुछ लेखक की अपनी व्यक्तिगत रुचि और विषयवस्तु पर निर्भर रहता है । प्रेमचन्द कलावादी नहीं थे । औपन्यासिक कला को उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने का साधन बनाया था; साध्य नहीं । वे किसी भी रचना में कलात्मक आवरण मात्र इस सीमा तक अनिवार्य मानते थे कि उसके अभाव में वह रचना नीरस और प्रभावशून्य न हो जाय । अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में वे आगे चल कर लिखते हैं---

---

१. कुछ विचार---पृष्ठ ४२ ।

"उपन्यासकार को इतना प्रयत्न करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों। उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए। अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।"[1]

उपन्यास-कला के व्याख्याकार के रूप में प्रेमचन्द की उपर्युक्त मान्यता थी। किसी सीमा तक वे इसमें सफल भी हुए हैं। लेकिन उपन्यासकार प्रेमचन्द अपनी स्वयं की मान्यताओं को जगह-जगह छोड़ जाते हैं और सीधे भाषणकर्ता के रूप में आ उपस्थित होते हैं। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थल अनेक हैं। उन्हीं स्थलों के आधार पर कुछ आलोचक उन पर प्रचारवादी होने का आरोप लगाते हैं। मूल प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द ऐसा क्यों करते हैं? उपन्यास-कला की व्याख्या करते हुए जिस तथ्य का उन्होंने विरोध किया है, उसे वे उपन्यास लिखते समय क्यों दृष्टि से ओझल कर जाते हैं? उपन्यास-कला पर लेखबद्ध जो उनके विचार हैं वे पूर्णतः उनके उपन्यास-साहित्य में क्यों नहीं मिलते? इसका एक मात्र उत्तर है—उनका समस्याओं के प्रति प्रेम। सामान्य औपन्यासिक कला-सम्बन्धी जितने दोष प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलते हैं, उसका कारण बहुत कुछ उनका समस्याओं के प्रति गहरा आकर्षण है। वे सभी तत्त्वों को पीछे छोड़ कर समस्याओं के ताने-बाने में उलझ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनके उपन्यासों को केवल सामाजिक उपन्यास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उनकी सामाजिकता समस्याओं के साथ है। कड़ी आलोचनाओं और आक्षेपों के बावजूद प्रेमचन्द ने यह मार्ग नहीं छोड़ा था। अतः उनके उपन्यास सस्मयामूलक हैं। वे उपन्यास की पुरानी परम्परागत शास्त्रीय सीमाओं में नहीं बँध पाते।

दूसरे, कुछ आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों को व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बताते हैं। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द का एक-आध उपन्यास चरित्र-प्रधान है; लेकिन इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी प्रेमचन्द के समस्यामूलक उपन्यासकार होने में कोई रुकावट नहीं आती। किसी भी लेखक के साहित्य का मूल्यांकन उसकी केवल एक-आध रचना के आधार पर नहीं किया जा सकता। चरित्रांकन के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द की स्वयं की मान्यताओं में विरोध मिलेगा। 'उपन्यास' नामक निबन्ध के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[2]

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ४२, ४३।

२. कुछ विचार—पृष्ठ ३८।

प्रेमचन्द के अधिकांश आलोचकों के लिए उपर्युक्त वाक्य 'वेद-वाक्य' हो गए हैं। वे प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन पूर्वाग्रह पर करते हैं। माना कि प्रेमचन्द ने औपन्यासिक रचनातंत्र में चरित्रांकन को प्रधानता दी है, पर यह कोई पूर्व निश्चित शर्त नहीं कि वह तथ्य उनके उपन्यासों में भी प्रधान हो। व्यक्ति-चरित्र की सूक्ष्मता प्रेमचन्द के उपन्यासों में है; किन्तु इसी आधार पर उनके उपन्यासों को चरित्र-प्रधान नहीं ठहराया जा सकता। समस्याओं में उलझे हुए पात्रों का चित्रण कुशलता के साथ होना ही चाहिए। प्रश्न यह है कि क्या पात्र समस्याओं की प्रधानता को दबा देते हैं एवं प्रेमचन्द अपनी कला का उपयोग पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में ही करते हैं? उनके आगे के उपन्यासकारों में अवश्य यह प्रवृत्ति पाई जाती है, पर प्रेमचन्द के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका कारण केवल इसके और कोई नहीं कि प्रेमचन्द के सम्मुख मात्र एक उद्देश्य था कि उपन्यास के माध्यम से भारतीय जीवन में परिवर्तन लाया जाय। वे अपने को 'कलम का मजदूर' कहते थे और वही कार्य जो महात्मा गांधी अपनी सक्रिय राजनीति से कर रहे थे, प्रेमचन्द अपनी लेखनी से पूरा करना चाहते थे। प्रत्येक असाधारण प्रतिभा में पात्रों के मनोभावों की तह तक पहुँचने की एक अलौकिक क्षमता होती है और वह प्रेमचन्द में भी थी।

प्रेमचन्द पहले समस्याओं को महत्त्व देते हैं और बाद में चरित्रांकन को। इस बात की पुष्टि उनके विरोधी आलोचकों के आक्षेपों से भी होती है। उनके कथनानुसार प्रेमचन्द का चरित्रांकन बड़ा दुर्बल है। उनके पात्र स्थान-स्थान पर लेखक की इच्छानुसार कठपुतली की तरह नाचने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रेमचन्द उनके स्वभावों में भी यकायक परिवर्तन कर देते हैं। अतः उनके चरित्रों में मानव मनोविज्ञान की दृष्टि से दोष आ गया है। मनुष्य का मन इतना सरल नहीं होता, जो बड़ी सुगमता से अपनी इच्छानुसार मोड़ा जा सके। विशेष परिस्थितियों में और एक लम्बा समय निकल जाने के बाद ही चरित्र-परिवर्तन कभी-कभी सम्भव हो सकता है। तो प्रेमचन्द के पात्र कहीं-कहीं बड़े निर्जीव हो गए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की महानता चरित्रांकन में दृष्टिगोचर नहीं होती, भले ही कुछ श्रद्धालु आलोचक उनकी मान्यताओं के अनुसार उनके उपन्यासों को मानव-चरित्र का दर्पण समझें। कहीं-कहीं कहानियों में चरित्रांकन की कसौटी पर वे अवश्य खरे उतरे हैं, पर उपन्यासों में नहीं। उनके उपन्यासों को व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास कहना उनके महत्त्व को कम करना है। वास्तव में उनके मानस-पट पर भारतीय जनता की समस्याओं का जाल ऐसा बिछा हुआ था कि वे उससे किसी भी दशा में मुक्ति न पा सके और न पाना ही चाहते थे। समस्याओं को यथासम्भव औपन्यासिक कला के भीतर रखने और उन्हें सुलझाने

में वे पात्रों को अपनी इच्छानुसार मोड़ लेते हैं। तभी कुछ आलोचक उनके पात्रों को कठपुतली-पात्र की संज्ञा देते हैं। प्रेमचन्द तुलसीदास की तरह लोक-हितवादी थे। उनका साध्य चरित्रांकन मात्र नहीं था। यदि होता, तो यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके पात्र किसी भी प्रकार फिर हलके नहीं ठहरते, क्योंकि उनमें एक असाधारण प्रतिभा थी, जो उस दिशा में भी अपना प्रभाव निश्चय ही दिखाती।

अत: प्रेमचन्द के उपन्यासों का वैज्ञानिक मूल्यांकन उनके चरित्रांकन को या उनकी सामाजिकता को प्रधानता देकर नहीं हो सकता। हमें इनके भी मूल में जाना होगा। और वह है उनका समस्यामूलक रूप। इसी क्षेत्र में उनका गौरव निहित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में यह खोजने का प्रयत्न किया गया है कि प्रेमचन्द के समय में देश की जो अवस्था थी उसके अनुरूप उन्होंने किस प्रकार अपने उपन्यासों को गढ़ा। वे कौन-कौन-सी समस्याएँ थीं जिन्हें प्रेमचन्द हल करना चाहते थे, उनकी ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे, उन समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द के अपने क्या विचार थे और इस प्रकार प्रेमचन्द एक समस्यामूलक उपन्यासकार के रूप में कहाँ तक सफल रहे।

प्रेमचन्द के समय का भारत

प्रेमचन्द का जन्म ३१ जुलाई सन् १८८० ई० को हुआ था। उनका साहित्यिक जीवन लगभग सन् १९०१ से प्रारम्भ होता है। सन् १९०१ से १९३६ तक का भारत प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि का केन्द्र रहा अतः यह आवश्यक है कि प्रेमचन्द के समय के भारत की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक दशा पर पहले विचार कर लिया जाय; क्योंकि प्रेमचन्द व्यक्तिवादी लेखक नहीं थे— उन पर उस समय की परिस्थितियों तथा समस्याओं का पूरा-पूरा प्रभाव है। किसी काल-विशेष में जो विचारधारा अथवा दृष्टिकोण बनता है उसका सम्बन्ध जागरूक लेखकों से बहुत निकट का रहता है। वस्तुतः विचारक और लेखक ही अपने समय की विचार-धारा के वाहक होते हैं। वे ही राष्ट्र तथा समाज को जीवन व गति प्रदान करते हैं।

प्रेमचन्द का युग भारतीय जनता के राष्ट्रीय संघर्ष का युग है। पराधीनता के कारण प्रत्येक क्षेत्र में भारत का विकास रुका हुआ था और उसकी सभी समस्याओं का निराकरण बिना स्वाधीनता-प्राप्ति के सम्भव नहीं हो पा रहा था। राष्ट्रीय पराधीनता एक ग्रंथि के समान बन गई थी जो भारतीय जीवन की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के सूत्रों को सुलझने नहीं देती थी। सबसे पहला प्रश्न देश को साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त करने का था। भारत की समग्र चेतना व कर्म-शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने में लगी हुई थी। अतः सर्वप्रथम राजनीतिक भारत पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश में निराशा का वातावरण छाया हुआ था। सन् १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम विफल हो चुका था। ब्रिटिश सरकार का दमन-चक्र अपनी पूरी गति से चल रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद राजाओं, जागीरदारों, ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों का अपनी रक्षा के लिये पोषण कर रहा था। चारों ओर दमन और अभाव का अन्धकार व्याप्त था। भारतीय जन-जीवन उसमें कोई राह न पाकर अनिश्चितता के बीहड़ प्रदेश में भटक रहा

था। सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। भारत के सुप्त प्राण पुनः जाग उठे। देश में एक नई हलचल पैदा हो गई।

सन् १६०१ में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के पश्चात् सप्तम एडवर्ड गद्दी पर बैठे। सन् १८८५ से १६०५ तक इंडियन नेशनल कांग्रेस ने काफी प्रगति की और वह जन-संस्था के रूप में देखी जाने लगी। इस बीच कांग्रेस के कार्य शांतिपूर्ण समझौते तथा विश्वास के आधार पर ही हुए। "कांग्रेसियों के दिलों में कभी-कभी कुछ उत्तेजना और रोष के भाव आ गए हों, पर इसमें कोई शक नहीं कि ठेठ १८८५ से १६०५ तक कांग्रेस की जो प्रगति हुई उसकी बुनियाद थी वैध आन्दोलन के प्रति उनका दृढ़ और अंग्रेजों की न्यायप्रियता पर अटल विश्वास ही।"[1]

बीसवीं शताब्दी के प्रथम पाँच वर्ष लार्ड कर्जन के दमनपूर्ण शासन के थे। भारत को इस दमन का सबसे बड़ा धक्का बंग-भंग से लगा। बंगला भाषा-भाषी जनता की इच्छा के प्रतिकूल बंगाल को दो प्रान्तों में बाँट दिया गया। कांग्रेस ने बंग-विभाजन के प्रश्न को देशव्यापी बनाकर आन्दोलन छेड़ दिया। सन् १६११ की शाही घोषणा से बंग-भंग का निर्णय वापस ले लिया गया। इसी समय भारत के राजनीतिक मंच पर सर आग़ा ख़ाँ के दर्शन हुए। आग़ा ख़ाँ के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जिसने साम्प्रदायिक पृथक प्रतिनिधित्व की माँग की और इस प्रकार भारत-विभाजन की नींव डाली। '१६१२ में लार्ड हार्डिङ्ग जब जुलूस के साथ हाथी पर नई राजधानी दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे किसी ने उन पर बम फेंका और वह मरते-मरते बचे।"[2] अफ्रीका के भारतीय आन्दोलन से भी देश की राष्ट्रीय चेतना को नया बल मिला।

जुलाई १६१४ में महासमर छिड़ गया। इस समर में भारतीय फौजों ने ब्रिटेन की पूरी रक्षा की। महात्मा गांधी ने सरकार को पूर्ण सहयोग दिया। क्योंकि युद्ध 'आत्म-निर्णय' के आधार पर किया गया था। लेकिन भारत की पराधीनता ज्यों की त्यों रही। इसी समय अंग्रेज सरकार द्वारा रोलट बिल (१६१६) को कानून बनाने के प्रयत्न किये गये। गांधी जी ने इसका कड़ा विरोध किया। "गांधी जी ने यह घोषणा की कि यदि रोलट कमीशन की सिफारिशों को बिल का रूप दिया गया तो वे सत्याग्रह युद्ध छेड़ देंगे।"[3] गांधी जी ने सम्पूर्ण देश का दौरा किया और अन्त में उन्हें आन्दोलन छेड़ना पड़ा। देश ने चारों

---

१. कांग्रेस का इतिहास, पहला खंड—लेखक डॉ० पट्टाभि सीतारमैया—पृष्ठ ५८।
२. वही ... ... पृष्ठ ६७।
३. वही ... ... पृष्ठ १२६।

तरफ से इस आन्दोलन में साथ दिया। जगह-जगह गोलियाँ चलीं। सबसे भयंकर नर-संहार जलियानवाला बाग (अमृतसर) में जनरल डायर द्वारा हुआ।

"सबसे बड़ी दुखद बात वास्तव में यह थी कि गोली चलाने के बाद मृतक और वे लोग जो सख्त घायल हो गये थे, उन्हें सारी रात वहीं पड़ा रहने दिया गया। वहाँ उन्हें रात भर न तो पानी ही पीने को मिला और न डाक्टरी या कोई अन्य सहायता ही। डायर का कहना था, जैसा कि बाद को उसने प्रकट किया : 'चूँकि शहर फौज के कब्जे में दे दिया गया था और इस बात की डौंडी पिटवा दी गई थी कि कोई भी सभा करने की इजाज़त नहीं दी जायगी, तो भी लोगों ने उसकी अवहेलना की, इसलिये मैंने उन्हें एक सबक बता देना चाहा, ताकि वे उसकी खिल्ली न उड़ा सकें।' आगे चलकर उसने कहा कि 'मैंने और भी गोली चलाई होती, अगर मेरे पास कारतूस होते। सोलह सौ बार ही गोली चलाई, क्योंकि मेरे पास कारतूस खत्म हो गये थे।' उसने और कहा : 'मैं तो एक फौजी गाड़ी (आरमर्ड कार) ले गया था, लेकिन वहाँ जाकर देखा कि वह बाग के भीतर घुस ही नहीं सकती थी। इसलिये उसे वहीं छोड़ दिया था।"[१] सितम्बर १९१९ में हन्टर-कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई, जिससे पंजाब के उपद्रवों की जांच करने के लिये कहा गया। गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

आगे चलकर १९२० के असहयोग-आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। सन् १९२० की २८ मई को हन्टर-रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसके कारण देश में और क्षोभ छा गया। भारतीय सदस्य उस रिपोर्ट से सहमत नहीं थे। असहयोग की योजना १ अगस्त से प्रारम्भ हुई। जगह-जगह आन्दोलनों की बाढ़-सी आ गई। अनेक आन्दोलनकारी जेलों में ठूँस दिये गये। १९२० नवम्बर में प्रिन्स ऑफ वेल्स के स्वागत का बहिष्कार किया गया। आन्दोलन सफलता की सीमा को पहुँचने लगा। लोगों के हौसले बहुत बढ़े हुए थे। असहयोग-आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर संघर्ष किया। लार्ड रीडिंग भी इस आन्दोलन से परेशान हो उठे। असहयोग-आन्दोलन अहिंसात्मक था। लेकिन चौरीचौरा के एक थाने पर लोगों ने आक्रमण किया और उसे जला दिया। गाँधी जी ने हिंसा को देख, आन्दोलन स्थगित कर दिया। गाँधी जी भी इस आन्दोलन में ६ वर्ष के लिए जेल भेजे गये।

सन् १९२२ में टैक्स न देनेका आन्दोलन छिड़ा, जिसमें सरकार ने बड़ी कठोरता से काम लिया। सन् १९२३ में जेलों से छूटे नेताओं ने कौंसिलों में जाने का निश्चय किया। स्वराज्य पार्टी का निर्माण हुआ। साइमन-कमीशन (८ नवम्बर १९२८).

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पृ० १३३।

का बहिष्कार किया गया; क्योंकि उसमें एक भी भारतीय नहीं था। सन् १९२७ में होनेवाले हिन्दू-मुस्लिम दंगों[1] को शांत करने लिए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने साइमन कमीशन भेजा था; लेकिन उसमें कोई भी भारतीय न होने से भारत ने उसे अपना अपमान समझा। धीरे-धीरे असंतोष तीव्रतर होता गया। जवाहरलाल नेहरू न मास्को से लौटकर मद्रास-कांग्रेस में भाग लिया। कांग्रेस में नया खून आया और गाँधी जी द्वारा विरोध करने पर भी पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर दी गई। १९३० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में नमक-कानून भंग करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। ६ अप्रैल १९३० को दाण्डी पहुँच कर नमक बनाया गया। स्त्रियों ने पर्दा छोड़कर इस आन्दोलन में भाग लिया। ब्रिटिश सरकार ने लाठियों और गोलियों से इस आन्दोलन को भी दबाना चाहा लेकिन जनता का उत्साह बढ़ता ही गया। अन्त में सरकार ने समझौता करना चाहा। गांधी-इरविन-पैक्ट सामने आया। तत्पश्चात् गांधी जी कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाग लेने इंगलैण्ड गए। गांधी जी जब वापिस लौटे तब देश की हालत और भी बिगड़ी दिखाई दी। उस समय लार्ड विलिंगटन का शासन था, जो बड़ा कठोर था। संयुक्त-प्रान्त के किसान लगान-बन्दी आन्दोलन कर रहे थे। नये भारत-कानून के अनुसार हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की चेष्टा की गई। गांधी जी ने इस साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आमरण अनशन की घोषणा कर दी। बाद में पूना-पैक्ट हुआ और व्रत तोड़ दिया गया। सन् १९३५ में भारतीय शासन-विधान बना। कांग्रेस ने विधान के अनुसार चुनावों में भाग लिया; यद्यपि वह उससे सन्तुष्ट न थी। इस प्रकार कांग्रेसी बहुमतवाले प्रान्तों में शासन-सूत्र कांग्रेस के हाथ में आ गया। मंत्रिमंडल बन ही रहे थे कि ७ अक्टूबर १९३६ को प्रेमचन्द की मृत्यु हो गई।

प्रेमचन्द के जीवन-काल में भारत उपर्युक्त राजनीतिक घटनाचक्रों में से गुजरा। वास्तव में प्रेमचन्द का युग भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का युग है। उनके समय देश का यौवन अपने पूरे विकास पर था। एक ओर नवयुवक बड़े उत्साह से

---

१. '१९२६ के मध्य में हमें देश की राजनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन करने के लिए उतर जाना चाहिए। ६ अप्रैल १९२६ को लार्ड इर्विन भारत में आए। लगभग उसी समय समय कलकत्ते में बड़ा ही भयानक साम्प्रदायिक दंगा हो गया।' —कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ २४३

'सन् १९२७ की गर्मियों में अन्य सालों की भाँति कोई मार्के का कानून नहीं हुआ, लेकिन देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़-सी आ गई। सबसे भीषण दंगा लाहौर में हुआ, जो ३ मई से ७ मई तक होता रहा और जिसमें २७ व्यक्ति मारे गये और २७२ घायल हुए। बिहार, मुलतान (पंजाब), बरेली (युक्त प्रान्त) व नागपुर (मध्य-प्रान्त) में भी इसी प्रकार के दंगे हुए।' —कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ २५२।

स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहे थे तो दूसरी ओर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का दमनचक्र अपनी पूरी कठोरता व निर्दयता के साथ चल रहा था। देश में जगह-जगह सभाओं और आन्दोलनों की धूम थी। विशाल जन-समूह के जुलूस प्रमुख नगरों में प्रायः निकला ही करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार और अर्थ-शास्त्री रजनी पामदत्त 'आज का भारत' नामक ग्रंथ में लिखते हैं: "१६१४-१८ के पहले महायुद्ध से, और उसके बाद सारी दुनिया पर जो क्रान्ति की लहर छा गई थी, उससे दूसरे सभी उपनिवेशों की तरह हिन्दुस्तान में भी बड़े-बड़े परिवर्तनों का युग आरम्भ हुआ। १६१६-२२ में बड़े-बड़े जन-आन्दोलनों से भारत हिल उठा और विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद, जिसका हिन्दुस्तान पर बहुत असर पड़ा, १६३०-३४ में और भी जोरों से जन-आन्दोलनों की लहर आई। ब्रिटिश हुकूमत इस उठते हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों का मुकाबला बारी-बारी से सुधार और दमन के ज़रिए करती थी। एक तरफ भविष्य में खुदमुख्तार सरकार देने के वादे किए जाते थे, दूसरी तरफ ऐसे वैधानिक सुधार किये जाते थे कि जिन हाथों में ताकत पहले थी, वह वहीं बनी रहती थी।"[1] प्रेमचन्दने अपनी आँखोंसे भारतीय चेतना के इस उभार को देखा ही नहीं था वरन् वे उस चेतना के वाहक एवं प्रसारक भी थे। व्यक्तिवादी लेखक न होने के कारण वे अपने को उपर्युक्त महत्वपूर्ण घटना-चक्रों से अलग नहीं रख सकते थे।

लेकिन उनके उपन्यास भारत के राजनीतिक जीवन का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते वरन् उसके आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी दृष्टिपात करते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द के उपन्यास भारत की राष्ट्रीय भावनाओं और उसकी ज्वलंत समस्याओं के प्रतीक हैं। वे कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। वर्तमान अर्थनीति राजनीति पर ही निर्भर है और आर्थिक संगठन का सामाजिक जीवन पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द के समय देश की आर्थिक स्थिति बड़ी भयावह थी। स्वयं प्रेमचन्द का जीवन आर्थिक अभावों का जीवन था। उन्होंने ग़रीबी का कटु अनुभव किया था। ग्रामों और नगरों में समान रूप से उनका जीवन बीता था। हिन्दुस्तान की निर्धनता और उससे मुक्त होने का उसका संग्राम प्रेमचन्द के उपन्यासों में एक विशेष महत्व रखता है।

भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द से पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है:

अंग्रेज राज सुख सजा सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥

---

१. आज का भारत—पृष्ठ ८।

ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी ।
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हा री ।।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।[१]

अंग्रेजी-राज्य में भारतीय जनता के शोषण का यह यथार्थ चित्र है । इस देश की सारी सम्पत्ति धीरे-धीरे ब्रिटेन पहुँच रही थी । भारतीय जनता आर्थिक अभावों में बड़ी कठिनाई से जीवन काट रही थी । इस अपार निर्धनता के बीच जनता पर विभिन्न करों का भारी बोझ लाद दिया गया था; और इस प्रकार भारतीय जनता के रक्त से ब्रिटिश-साम्राज्य का भव्य भवन बन रहा था । हिन्दुस्तान ब्रिटिश-साम्राज्य की धुरी था । यहाँ के व्यापार का सबसे बड़ा भाग अंग्रेजों के हाथ में था । हिन्दुस्तान के दारिद्र्य के संबंध में भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और खंबाटा ने लिखा —

"हिन्दुस्तानियों की औसत आमदनी इतनी होती है कि तीन आदमियों की आमदनी से दो का ही पेट भर सकता है । उनको तीन बार खाना खाने की जरूरत होती है । तीन बार न खाकर दो ही बार खाएँ तो इतना हो सकता है कि इन तीनों आदमियों का पेट भर जाय । लेकिन इसके लिए शर्त यह है कि वे कपड़े न पहनें और न घर में ही रहें बल्कि सालभर बाहर ही दिन काटें । तभी अपनी आमदनी से वे भर पेट खाना खा सकते हैं, लेकिन यह खाना भी ऐसा होना चाहिए जो सबसे मोटा-झोटा और शारीरिक शक्ति के लिए बिलकुल मामूली हो ।"[२]

सरकारी रिपोर्टों से भी साधारण जनता की दयनीय दशा प्रकट होती है :

"कुशल मजदूरों को छोड़कर हिन्दुस्तान के मजदूरों को इतनी पगार मिलती है कि मुश्किल से ही उनका पेट भर सकता है और तन ढँका रह सकता है । हर जगह इनकी बस्ती में ठूँसाठूँस पची हुई है । गन्दगी और तबाही की कोई हद नहीं ।"[३]

"हिन्दुस्तान के लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा अब भी ऐसी गरीबी के दिन काट रहा है कि इस तरह की चीज पश्चिम के देशों में है ही नहीं । जिन्दगी और मौत के कगार पर इनके दिन कट रहे हैं ।"[४]

"उद्योग-धंधों के अधिकांश केन्द्रों में मजदूरों की कुल आबादी का दो-तिहाई भाग ऐसे लोगों का है जो कर्ज में डूबे हुए हैं ।........अधिकांश लोगों का खर्च

१. भारत-दुर्दशा ।
२. भारत की सम्पत्ति और उसकी करोपयोगी क्षमता, १९२९—पृष्ठ १५३ ।
३. १९२७-२८ में हिन्दुस्तान ।
४, १९२९-३० में हिन्दुस्तान ।

उनकी तीन महीने की मजदूरी से ज्यादा और अक्सर इससे भी बहुत ज्यादा पड़ता है।"[१]

"आजकल बंगाल के अधिकतर किसान ऐसा भोजन करते हैं जिनके सहारे चूहे भी पाँच हफ़्ते से ज्यादा नहीं चल सकते। उचित खुराक न मिलने से उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई है कि वे गन्दी बीमारियों की छूत का मुकाबला कर ही नहीं सकते।"[२]

प्रेमचंद के उपन्यासों में किसान-वर्ग का चित्रण बड़े विस्तार से किया गया है। भारतीय गाँवों और किसानों की दशा से वे अत्यधिक निकट से परिचित थे। 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' ग्रामीण जनता अथवा किसान-वर्ग के महाकाव्य माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त 'वरदान', 'सेवासदन', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों में भी प्रेमचंद ने किसान और उसकी विभिन्न समस्याओं की ओर सशक्त संकेत किये हैं।

भारत की अधिकांश जनता का धंधा खेती रहा है। खेती पर निर्भर लोगों का अनुपात सन् १८९१ से १९३१ तक की जन-संख्या-रिपोर्ट से देखा जा सकता है।[३] सन् १९३३ के लगभग भारतीय किसान और खेती की दशा के सम्बन्ध में प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तानमें भूमिकी समस्याएँ' में लिखते हैं :

"धरती से जीविका चलानेवालों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि खेत बिल्कुल छोटे-छोटे हो गए हैं। इन छोटे खेतों में एक पूरे परिवार को भी पूरा काम नहीं मिलता।...साथ ही ज़मींदार अपने पुराने और सम्मानपूर्ण चलन को नहीं निभाते। वे किसी तरह की दौलत पैदा नहीं करते, उनका काम सिर्फ लगान वसूल करना है। न वे खेती के लिए पूँजी देते हैं, न किसान के धंधों का संचालन करते हैं। इनके नीचे कारिन्दों की एक ऐसी जमात है, जो उलझी हुई भूमि-व्यवस्था से पूरा फ़ायदा उठाती है। इससे खेत जोतनेवाले किसानों की हालत बद से बदतर होती जाती है।"[४]

"युक्त प्रान्तमें खास तौरसे मालगुजारीकी दर बेतहाशा बढ़ाई गई है।"[५] 'युक्त-प्रान्त की विकट स्थिति' शीर्षक से डॉ० पट्टाभि भारतीय किसानों की दशा का विव-

---

१. व्हिटले कमीशन, १९२९—पृष्ठ २२४।

२. 'बंगाल स्वास्थ्य रक्षा विभाग' के डायरेक्टर की रिपोर्ट—१९२७-२८

३. जन-संख्या रिपोर्ट के अनुसार खेती पर निर्भर लोगों का अनुपात—

सन् १८९१	...	६१.१	फीसदी
सन् १९०१	...	६६.५	,,
सन् १९११	...	७२.२	,,
सन् १९२१	...	७३.०	,,
सन् १९३१	...	६६.६	,,

४. पृष्ठ १६१-६२।

५. पृष्ठ २०६।

रण इस प्रकार देते हैं : "युक्त-प्रान्त में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी ।......
युक्त-प्रान्त में किसानों की अधिकांशतः ताल्लुकेदार व ज़मींदारों के अधीनस्थ किसानों की—आर्थिक दशा बहुत खराब हो रही थी। उनकी विपत्ति बढ़ रही थी। लगान वसूली के तरीकों में नरमी का नाम-निशान न था ।.... बेदखलियों तथा दबाव की ज्यादती से यह विपत्ति और भी अधिक गंभीर हो गई। अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में तो किसानों पर आतंक का राज्य छा गया है और उनके साथ क्रूरता-पर-क्रूरता होने लगी।"[१] यह विवरण लगभग सन् १९३१ की स्थिति को दृष्टि में रखकर किया गया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय किसान कर्ज के बोझ से भी बुरी तरह लदा हुआ था। इस कर्ज का कारण आर्थिक है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक इस कर्ज का कारण किसानों की फ़िज़ूलखर्ची बताते हैं, जैसे–ब्याह-शादी, मूँड़न-छेदन आदि-आदि अवसरों पर निरर्थक व्यय होनेवाला द्रव्य। पर, वास्तव में ऐसी बात नहीं है। बंगाल में दक्षिण-पश्चिमी वीरभूम के देहातों के कर्ज की जाँच (१९३३-३४) के अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्ज़ का लगभग एक-चौथाई भाग लगान देने के लिये लिया गया है।[२] अतः कर्ज के कारण आर्थिक हैं, ये सामाजिक कुरीतियों व अंधविश्वासों तक ही सीमित नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद के समय भारत राजनीतिक पराधीनता के पाश में ही बद्ध न था वरन् भयंकर ग़रीबी का भी शिकार था। कर्ज के बोझ से लदा हुआ अधिकांश भारतीय समाज असंतोष के धुएँ में साँस ले रहा है। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजी-राज की लूट-नीति थी। अंग्रेज शासकों ने भारतीय जनता की ग़रीबी दूर करने के लिये कोई कदम नहीं उठाया; वे शोषण-शस्त्र से अपना घर ही भरते रहे।

प्रेमचंद ने भारत की इस लूट को अपनी आँखों से देखा था। उन्होंने भारतीय समाज के प्रत्येक अंग—मजदूर, किसान, मध्यमवर्गीय परिवार आदि की आर्थिक

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पृष्ठ ४०४।

२.

लगान देने के लिए	रु० १३,०००	२४.२ फीसदी
पक्के सुधार के लिए	१२,७३६	२३.७ ,,
सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए	१२,०२१	२२.३ ,,
पुराना कर्ज अदा करने के लिए	४,५०३	८.४ ,,
खेती के लिए	२,४२३	४.५ ,,
मुकदमों के लिए	७०८	१.३ ,,
फुटकर	८,४७१	१५.६ ,,

एस० बोस—आँकड़ों की हिन्दुस्तानी पत्रिका, सितम्बर १९३७

स्थिति अपने उपन्यासों में चित्रित की। तत्कालीन भारत की आर्थिक दशा का यथार्थ ज्ञान प्रेमचंद-साहित्य से होता है। आर्थिक समस्या का सीधा सम्बन्ध राष्ट्रीय पराधीनता से था अतः देश को स्वाधीन करने का प्रश्न प्रमुख था। प्रेमचंद ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन को इसीलिए प्राथमिकता दी। सामाजिक समस्याएँ आर्थिक कारणों पर ही अवलम्बित रहती ह। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन होने से सामाजिक ढाँचा अपने आप बदलने लगता है। अनेक सामाजिक कुरीतियों को जन्म देनेवाली दूषित अर्थव्यवस्था ही होती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जहाँ कहीं भी सामाजिक समस्याएँ आई हैं उनका आधार आर्थिक है। वेश्या-वृत्ति, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, छूआ-छूत, शिक्षा, ग्राम्य-जीवन आदि सभी के मूल में आर्थिक पहलू है। हमें आगे यह देखना चाहिये कि प्रेमचंद ने अपने समय के भारत का किस प्रकार प्रतिनिधित्व किया। वे कौन-कौन-सी तत्कालीन समस्याएँ थीं, जिनकी युग-धर्म को माननेवाला जागरूक साहित्यकार उपेक्षा नहीं कर सकता था।

प्रेमचंद-युग में मध्यवर्ग की स्थिति

भारत में मध्य-वर्ग का उदय अंग्रेजी-साम्राज्य के फलस्वरूप हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय मध्य-वर्गीय समाज का स्वरूप सामने आया। सुप्रसिद्ध कवि और विचारक श्री हुमायूँ कबीर अपनी पुस्तक 'दि इंडियन हेरिटेज' में तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं: "समस्त प्राचीन मूल्यों पर विश्वासों को चुनौती दी जा रही थी। विश्वास और रीति-रिवाजों के प्राचीन रूप ढह रहे थे। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ तीव्र गति से टूट रही थीं। भारत वास्तविक अर्थ में परिवर्तन की अनिश्चित दशा में था। प्राचीन सामाजिक संगठन अव्यवस्थित हो रहा था। नए तत्व उभर रहे थे, जिनकी किसी भी बीते युग में कोई मिसाल नहीं मिलती।"[1]

"सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का परम्परागत ढंग अव्यवस्थित ही नहीं कहीं-कहीं नष्ट तक हो रहा था। यही नहीं, नए और सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण के निर्माण का भी कोई प्रयत्न नहीं था जो अतीत की विरासत को पश्चिम से आये नए तत्वों के साथ जोड़ता। पर, प्रकृति रिक्त स्थिति नहीं रहने देती। निदान असंघटित तथा खंडित विश्वास और स्वभाव जीवन के प्राचीन ढंग का स्थान लेने लगा। प्राचीन अप्रत्याशित रूप से नष्ट हो रहा था, लेकिन नए दृष्टिकोण का उत्पन्न होना अभी शेष था।"[2] भारतीय समाज पर पाश्चात्य प्रभाव बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप मध्य-वर्ग का जन्म हुआ।

---

1. "All old values aud beliefs were being challenged. Social economic and political institutions were breaking up at a terrifying pace. India was literally in the melting pot. The old social stratification was disturbed. New types emerged which have no parallel in any previous period."—Chap. Modern Ferment, page 116-117.
2. "The old traditional pattern of social, economic and political life was disturbed and at times destroyed. Nor was there any attempt to build up a new and integrated outlook which could combine the heritage of the past with new ingredients brought from the West. Nature cannot, however, permit a vacuum. Haphazard and fragmentary belief and habits took the place of the old way of life. The old was destroyed beyond recall but the new remains still unborn."—The same, page 119.

यह वर्ग पढ़े-लिखे लोगों का बना। अंग्रेजी-राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न कार्यालयों में पढ़े-लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। इस आवश्यकता पूर्ति के निमित्त अंग्रेजों ने देशभर में विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना की और अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया। इन विद्यालयों और महाविद्यालयों से इस वर्ग के मस्तिष्क का उत्तरोत्तर विकास हुआ और मध्य-वर्ग देश के प्रधान बुद्धिजीवी-वर्ग के रूप में सामने आया। ब्रिटिश शासकों की शैक्षणिक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए हुमायूँ कबीर आगे लिखते हैं: "काफी समय तक शासन व्यावसायिक लाभ को दृष्टि में रख कर किया जाता रहा। देश के साधनों का पूर्णरूपेण शोषण करने के हेतु ब्रिटेन को ऐसे मध्यश्रेणी के मनुष्य समुदाय की आवश्यकता थी जो उसके और भारतीय लोगों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सके। शासन-प्रबन्ध की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी यही समस्या थी। उच्चस्तरीय नीति स्वयं अंग्रेज नियत करते थे, पर शासन-प्रबन्ध में उसके दैनिक प्रयोग के लिये भारतीय लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती थी। परिणाम यह हुआ कि प्रबन्ध सम्बन्धी एक बड़े वर्ग का निर्माण हुआ, जिसने अंग्रेजों को शासन-प्रबन्ध और व्यापार में सहायता दी। इन सेवकों की प्रस्तुत योग्यता अंग्रेजी भाषा में 'प्रवीणता' मानी जाती थी। शिक्षा का स्वरूप भी शासकों की आवश्यकतानुसार निर्मित हुआ। मनुष्य के व्यक्तित्व पर शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजी की भाषागत प्रवीणता प्राप्त करना हो गया।"[1]

मध्य-वर्ग पर एक ओर पाश्चात्य प्रभाव पड़ रहा था तो दूसरी ओर भारतीय सुधारवादी संस्थाओं का। वास्तव में मध्य-वर्ग की स्थिति का कोई निश्चित रूप दिखाई नहीं देता। इस वर्ग में अनेकरूपता मिलती है। हुमायूँ कबीर के शब्दों में: "पढ़े-लिखे नए वर्गों ने अपने विचार अधिकतर पश्चिम से ग्रहण किये।

---

1. "Administration was long conducted with a view to commercial advantage. For full exploitation of the country's resources, Britain needed a group of middle men who could act as interpreters between her and the Indian people. The needs of administration also posed the same problem. Higher policy could be determined by the British themselves, but its application to the daily routine of administration required the services of indigenous man. The result was the creation of a large ministerial class who helped the British in administration and commerce. The primary qualification for such subordinates was proficiency in the English language. Education was therefore remodelled to suit the needs of the rulers. Instead of development of human personality, the chief aim of education became the attainment of linguistic proficiency in English."—Indian Heritage, page 123-124.

उन्होंने किसी-न-किसी रूप में अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण उनके रहन-सहन को भी अपनाया। ....अंग्रेजी भाषा का ज्ञान गत शताब्दी में लगातार बढ़ता गया जिसके कारण मध्य-वर्ग का अत्यधिक फैलाव हुआ।"[१] इसके अतिरिक्त इस नवोदित वर्ग पर कुछ सुधारवादी संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ा। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफ़िकल सोसायटी, कांग्रेस आदि संस्थाओं का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। बुद्धिजीवी मध्य-वर्ग अपने को इन सुधारवादी-आन्दोलनों से मुक्त न रख सका और इस प्रकार उसके मानस पर भी सुधारवादी रंग चढ़ता गया। यह भारतीय मध्य-वर्ग की मानसिक बनावट का विशिष्ट पहलू है जो उसे विश्व के अन्य मध्य-वर्गीय जनों से पृथक् करता है। मानसिक बनावट के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी मध्यवर्गीय समाज में आर्थिक श्रेणियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं। हुमायूँ कबीर लिखते हैं: "मध्य-वर्ग कभी एकरूप नहीं हो सकता। कोई भी सामाजिक वर्ग पूर्ण रूप से एकरूप नहीं होता; लेकिन मध्यवर्गीय लोगों में स्तरहीन विभाजन विशेष रूप से दृष्टव्य है। एक ओर तो वे बिलकुल निम्नवर्ग की सीमा पर होते हैं तो दूसरी ओर उनमें और पूँजीपतियों में अन्तर करना कठिन हो जाता है।"[२]

मध्य-वर्ग के उदय और विकास में पूँजीवादी व्यवस्था का भी हाथ है। पूँजीवादी देशों में मध्य-वर्ग की स्थिति काफी अच्छी है। भारत चूँकि पराधीन रहा इसलिए यहाँ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का स्वतंत्रतापूर्वक विकास न हो सका। भारतीय मध्य-वर्ग की स्थिति अच्छी न होने के कारण मध्य-वर्गीय जनता में सर्वाधिक असंतोष व्याप्त है। हुमायूँ कबीर जैसा लिखते हैं, "सभी जगह मध्य-वर्ग यह अनुभव करने लगा है कि उसका कोई भविष्य नहीं है। भारत में उसकी दशा और भी दयनीय है। पूँजीवाद के विकास ने अन्य देशों में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में उनके लिए स्थान बना दिया है, पर भारत में पूँजीवाद को अंग्रेजों ने राजनीतिक और आर्थिक दबावों के कारण बढ़ने नहीं दिया। इस पर भी, समाज की अन्य श्रेणियों का झुकाव, मध्य-वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी दशा देखकर उसकी ओर बराबर

---

1. The new literate classes largely derive their ideas from the West. They also have in one way or another derived their living from the British connection.........Literacy in English has continually expanded in the course of the last century and led to an inordinate expansion of the middle classes."—The same, page 125-126.
2. "For one thing, the middle classes can never be a homogeneous group. No social class is fully homogeneous, but stratification is even more marked in the case of the middle classes. At one extreme are those who just escape being proletariats. At the other are those who are hardly distinguishable from capitalists."—The same, Page 141.

हो रहा । मध्य-वर्ग इतना बढ़ा कि मौजूदा आर्थिक स्थिति उस संस्था को सँभाल न सकी । उसके सदस्य आर्थिक श्रेणी के निचले स्तर पर वापिस जाने को उद्यत नहीं थे और पूँजीवाद के प्रति उनके बढ़ते हुए कदम हजारों तरीकों से रोक दिए गए । बेकारी बढ़ती गई और उसके साथ-साथ असंतोष भी ।"

भारत का सर्वाधिक चिंत्य वर्ग यही मध्य-वर्ग है । इसकी अधिकांश समस्याएँ इसकी स्वयं की दुर्बलताओं के कारण हैं । मध्य-वर्ग के व्यक्तियों के स्वभाव का विश्लेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि उनके मन और मस्तिष्क का आधार अभिजात-वर्गीय समाज की श्रेणी तक पहुँचने की भावना है । पर यह भावना आर्थिक अभावों के कारण कुंठित हो जाती है । इस कारण मध्य-वर्गीय परिवारों में 'दिखावे का रूप' प्रायः पाया जाता है । बाहर से वे अपने ऊपर एक अभिजात-वर्गीय परदा डाले रहते हैं । यह परदा इस कारण प्रभावहीन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मध्य-वर्गीय व्यक्ति मानसिक विकास में किसी से पीछे नहीं होते—विकसित मानसिक धरातल के साथ अभिजातवर्गीय ढोंग निभ जाता है । पर वास्तविकता प्रकट होने पर अथवा जीवन-संघर्ष के बीच मध्य-वर्ग का यथार्थ रूप सहज ही प्रकट हो जाता है । घर में धन के नाम पर कुछ नहीं निकलता । पर, सम्मान-भावना के पीछे मध्य-वर्गीय परिवार कर्ज लेते हैं और अपने जीवन को धीरे-धीरे उलझाते जाते हैं । यदि अभिजात-वर्ग की प्रतिस्पर्धा की भावना का लोप इस वर्ग में हो जाय तो इस वर्ग की अधिकांश समस्याएँ दूर हो सकती हैं अथवा उनको सुलझाने में सुगमता उत्पन्न हो सकती है । निःसंदेह दिखावे की भावना के कारण ही आर्थिक तंगी का विशेष शिकार इस वर्ग को रहना पड़ता है ।

मध्य-वर्गीय समाज के मनोवैज्ञानिक पहलू और उसकी अन्य श्रेणियों से तुलना करते हुए श्री हुमायूँ कबीर लिखते हैं : "आधुनिक भारतका संभवतः सबसे महत्वपूर्ण तथ्य मध्य-वर्ग का असंतुलित फैलाव है । सम्पूर्ण विश्व में मध्य-वर्ग के लोग अशांत,

1. "The middle classes have everywhere started to realise that they have no future. In India their plight is still more pitiable. The growth of capitalism has in other countries secured them a place in the social economy. In India, the expansion of indigenous capitalism was resisted by the British through political and economic pressure. And yet, the relative comforts enjoyed by the middle classes continually attract recruits from other strata of society. A middle class has developed which is too numerous for support by the existing economy. Its members refuse to go back to a lower level of economic competence. And yet their march forward to capitalism is hampered in a thousand ways. Un-employment has increased and so has discontent."—The same, page 137-138.

आलोचनात्मक, और व्यक्तिवादी हैं। ऐसी स्थिति के कारण उनकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल है। पूँजीवादी श्रेणी में ऊपर उठने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप उनमें बहुत से निम्न श्रेणी की स्थिति में पहुँच जाते हैं। वे अनुभव करते हैं कि उन्हें सम्मानपूर्ण स्तर बनाए रखना आवश्यक है; जो प्रायः उनके साधनों की पहुँच के बाहर होता है। लगातार आर्थिक संघर्ष उनके जीवन के समस्त दृष्टिकोण पर प्रभाव डालता रहता है। अपनी स्थिति के संबंध में निश्चिन्त होने के कारण अभिजात वर्गीय कभी अपने महत्व को जताने की आवश्यकता नहीं समझता। निम्न-वर्गीय भी अपने भाग्य से संतुष्ट रहता है। मध्य-वर्ग संतुष्ट नहीं रहता और वह प्रायः उद्दंड, आत्म-प्रदर्शनकारी और मुँहफट होता है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए वह दूसरों की आलोचना करता है।"[1]

कुल की तथाकथित मर्यादा मध्य-वर्ग के विकास में सबसे बड़ी रुकावट है। यह समस्या उच्च और निम्नवर्ग में नहीं है। निम्न वर्ग में प्रायः सभी सदस्य काम करते हैं और इस प्रकार अपना-अपना जीविकोपार्जन करते हैं। उनको एक-दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। परिवार के सभी सदस्य-युवक, बालक, स्त्रियाँ आदि कुछ भी काम करके थोड़ा-बहुत धन कमा ही लेते हैं। दूसरे उनकी आवश्यकताएँ भी अधिक नहीं होतीं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के सामने कोई जटिल समस्या नहीं आती। वह बहुत कुछ संतुष्ट रहता है, पर निम्न-वर्ग की तुलना में मध्यवर्ग की स्थिति बड़ी भयावह होती है। मध्य-वर्गीय परिवार में कमानेवाला केवल एक सदस्य होता है। कुल की मर्यादा के कारण स्त्रियाँ नौकरियाँ नहीं करतीं। इस प्रकार परिवार का सारा आर्थिक बोझ केवल एक व्यक्ति के कंधे पर पड़ता है और फिर मध्य-वर्ग को अपनी थोथी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए भी अनावश्यक बातों में अनिवार्य रूप से खर्च करना पड़ता है। इस प्रकार मध्य-वर्ग आर्थिक अभावों में बुरी तरह ग्रस्त मिलेगा। उच्च वर्ग के पास पैसा है। वह अपने धन के

---

1. "The unbalanced growth of the middle classes is perhaps the most significant fact of modern India. Middle classes all over the world are restless, critical aud individualistic. Frcm the nature of the case, they are economically unstable. Impelled by the urge to move upward into the ranks of the capitalist, many of them are yet fated to relapse into the ranks of the proletariat. They feel they have to maintain a standard of respectability which is often beyond their means. This constant economic struggle colours their whole outlook of life. The aristocrat is so sure of his own standing that he feels no need to assert it. The proletariat also is apt to accept his lot. The middle class refuse to be content and are often agressive, self-assertive and loud. They seek to justify themselves by criticising others." The same—page 141.

बल पर हर वस्तु खरीद सकता है। अतः मध्य-वर्ग का जीवन ही सर्वाधिक जटिल और अभावग्रस्त जीवन है।

पर मध्य-वर्गीय अपने वर्ग को, अपने स्वतंत्र अस्तित्व को, छोड़ना नहीं चाहता। "....इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मध्य-वर्गीय भावनाओं से युक्त जन-समूह प्रतिस्पर्द्धा के दृष्टिकोण के होते हुए भी न तो 'शासन-वर्ग' में विलीन हुआ है; और न शोषित औद्योगिक कामगारोंके समान बना है। प्रत्युत पूँजीवाद के विस्तार-युग में उसकी संख्या बढ़ी है और उसने उस युग के महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन में प्रायः निर्णयात्मक भाग लिया है।"[1]

मध्य-वर्ग की नारी की समस्या भी एक जटिल समस्या है। आर्थिक पराधीनता तो उसके साथ है ही—सामाजिक और नैतिक नियमों से भी वह बुरी तरह बँधी हुई है। निम्न-वर्ग की नारी एक पति को छोड़कर दूसरा पति कर सकती है। इसी प्रकार उच्च-वर्ग की नारी में भी यौन-पवित्रता को इतना महत्व नहीं दिया जाता, पर मध्यवर्ग में नारी घर की लक्ष्मी समझी जाती है। उस पर उस घर की प्रतिष्ठा आधारित रहती है। मध्यवर्गीय नारी को अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। प्रेमचंद ने 'ग़बन' की 'रतन' में और 'निर्मला' में यही तथ्य प्रस्तुत किया है।

मध्यवर्ग प्राचीन संस्कारों से बुरी तरह ग्रस्त है। उसमें अभी भी प्राचीन-संस्कारों को नष्ट करने की शक्ति नहीं आई है, भले ही प्राचीन संस्कारों के प्रति मोह न रहा हो। परम्परागत रूढ़ियों को मध्य-वर्ग आज भी इच्छा-अनिच्छा से ढोये जा रहा है। इन्हीं संस्कारों के फलस्वरूप मध्यवर्गीय नारी-समाज की दशा सर्वाधिक शोचनीय है। सामाजिक क्षेत्र में एक प्रकार का पिछड़ापन मध्य-वर्ग के नारी-समाज में प्रायः मिलता है।

मध्य-वर्ग में ढुलमुल नीति का अवगुण भी मिलता है। उसके निश्चय बहुत कम पूरे हो पाते हैं। इसका कारण मध्य-वर्ग का आत्मनिर्भर न होना है। उसे श्रम-क्षेत्र में निम्न-वर्ग के और अधिकार-क्षेत्र में उच्च-वर्ग के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण उसे समय-समय पर अनेक विरोधी तत्वों से समझौता करना पड़ता है। समझौते की भावना इसलिए और भी उससे मिलती है; क्योंकि वह संघर्ष से यथासंभव बचना चाहता है। मध्य-वर्ग के अधिकांश लोग नौकर-पेशा

1. "........there is considerable evidence that groups marked by middle class sentiment, with their competitive attitudes and their refusal to become indentified with either the "ruling class" or the exploited industrial workers, have grown in size during the period of expanding capitalism and have often played a crucial role in the important social changes of that era."—'Society' by R. M. Maciver and C. H. Page, Chap.—'Social Class and Caste', Page 364.

पाए जाते हैं। सरकारी या गैरसरकारी नौकरी करनेवाले व्यक्तियों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे सरकार अथवा अपने मालिकों के विरुद्ध कोई कदम उठा सकें। निदान उन्हें समझौते का मार्ग अपनाना पड़ता है। इससे उनके दैनिक जीवन में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। मध्यवर्गीय व्यक्ति यदि कुछ आगे बढ़ेगा भी तो मात्र सुधार भावना तक ही। वह कोई ठोस क्रांतिकारी कार्य करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। बौद्धिक दृष्टि से यद्यपि उसमें कोई कमी नहीं होती फिर भी सक्रिय रूप में वह कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक नहीं चला पाता।

प्रेमचंद मध्य-वर्ग और निम्न-वर्ग के लेखक थे। वे जितनी सफलता के साथ मध्य और निम्न वर्गों का चित्रण कर सके उतनी सफलता के साथ उच्च-वर्ग का नहीं; यद्यपि इस क्षेत्र में भी उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। पर जब हम उनके समस्त व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मन जितना मध्य और निम्न-वर्गों की समस्याओं में रमा है उतना उच्च वर्ग की समस्याओं एवं प्रश्नों में नहीं। स्वयं प्रेमचंद और उनका घराना मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखता है। मध्य-वर्गीय होने के कारण मध्य-वर्ग से उनकी निकटता स्वाभाविक थी। वास्तव में मध्य-वर्ग से वे सर्वाधिक परिचित थे। यदि निम्न वर्ग का अधिकांश चित्रण उन्होंने तत्कालीन वातावरण को देखकर किया तो मध्य-वर्ग का चित्रण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर।

प्रेमचंद के समय भारतीय मध्य-वर्ग की स्थिति का यथार्थ वर्णन और वैज्ञानिक विश्लेषण डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : एक विवेचना' में काफी विस्तार से किया है। वे लिखते हैं : "मध्य-वर्ग जीवन के प्रधान और नवीन आदर्शों के संघर्ष के बीच से गुजर रहा था। पूँजीवादी या पाश्चात्य सभ्यता के आघात ने जीवन के मध्यकालीन और आधुनिक दृष्टिकोण के बीच एक गहरी खाई खोद दी थी। प्रेमचंद की प्रारंभिक कृतियों का संबंध विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज के इसी संघर्ष से है। वह सुधार करने के लिए कटिबद्ध था।......सामाजिक मामलों में मध्यवर्ग ने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का अधिक उपयोग आरम्भ किया। ......यह मध्य-वर्ग उन जायदाद रखनेवाले सज्जनों से मतभेद रखता था, जो अपने किराये की आमदनी के बल पर भविष्य की सभी चिंताओं से मुक्त थे। इसलिए मध्य-वर्ग और उत्साह के साथ नैतिकता को अपना रहा था।"[१]

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में मध्य-वर्ग के इसी दल का चित्रण किया है। उनकी सहानुभूति इसी सामाजिक दल के साथ रही। उनके प्रमुख मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्र नैतिकता को अपनाकर चले हैं। चूँकि प्रेमचंद की नैतिक

१. प्रेमचंद : एक विवेचना—पृष्ठ ४१-४२

मूल्यों पर गहन आस्था थी इसलिए उन्होंने अनीति की कहीं विजय नहीं बताई। सत्य की सदैव असत्य पर विजय बताना ही उनका जीवन दर्शन था। इस प्रकार प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय-समाज में उभरनेवाले इस प्रगतिशील मध्य-वर्ग के नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं वे स्वयं के मध्य-वर्गीय संस्कारों के कारण समझौतेका कार्य अपना लेते हैं। समझौते की भावना मध्यवर्गीय समाज के मानस में विशेष रूप से दिखाई देती है और इससे प्रेमचंद भी नहीं बच सके हैं।

प्रेमचंद के प्रथम उपन्यास 'वरदान' का सम्बन्ध मध्य-वर्ग के जीवन से ही है। ब्रजरानी, प्रताप, कमलाचरण जैसे प्रमुख पात्र मध्य-वर्ग के ही हैं, और उनकी समस्याएँ भी मध्य-वर्गीय परिवारों की समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं। मध्य-वर्गीय समस्या में विवाह और प्रेम का जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है उसका बड़ा ही सफल कथात्मक चित्रण 'वरदान' में हुआ है। प्रारम्भिक और साधारण उपन्यास होते हुए भी 'वरदान' से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचंद का मन किस प्रकार मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं की ओर आकर्षित हो रहा था।

'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद ने विधवाओं के पुर्नविवाह की समस्या का उद्घाटन मध्य-वर्गीय समाज की पृष्ठभूमि पर ही किया है। मध्यवर्ग में पाई जानेवाली इस सामाजिक कुरीति का यथार्थ चित्रण 'प्रतिज्ञा' की प्रमुख विशेषता है। ये विधवाओं के जीवन की दयनीय स्थिति को बताकर विधवा-विवाह के प्रचलन पर जोर देते हैं। चूँकि 'प्रतिज्ञा' का युग मध्य-वर्ग के जागरण और संघर्ष का उषाकाल था अतः प्रेमचंद का दृष्टिकोण भी इस उपन्यास में सुधारवादी रहा है। वे सुधार के द्वारा इस सामाजिक कुरीति को मिटाना चाहते हैं। 'प्रतिज्ञा' का प्रमुख मध्य-वर्गीय पात्र अमृतराय है जो विधवाओं की दशा सुधारने में ही अपने जीवन का होम कर देता है। प्रेमचंद ने मध्य-वर्गीय विशिष्ट नैतिक मूल्यों को अमृतराय के चरित्र में भली-भाँति बताया है।

'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' के पश्चात् 'सेवासदन' में प्रेमचंद मध्य-वर्ग के जीवन का बड़े विस्तार से चित्रण करते हैं। वास्तव में 'सेवासदन' मध्य-वर्ग के जीवन का ही उपन्यास है। उसमें मध्य-वर्गीय परिवारों की एक ज्वलंत समस्या पर प्रकाश डाला गया है—यह समस्या नारी जीवन की समस्या है जो वैवाहिक, वैधव्य और वेश्या-वृत्ति के पहलू विशेष रूप से रखती है। डा०इन्द्रनाथ मदान 'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए एक स्थल पर लिखते हैं, "उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र मध्य-वर्ग के हैं और उनका चरित्र-चित्रण जीवन के सुधारवादी दृष्टिकोण से ही किया गया है। लड़की के पिता कृष्णचन्द्र में इस वर्ग के सब गुण और अवगुण विद्यमान हैं।'[1] .... पद्मसिंह

---

१. प्रेमचंद : एक विवेचना—पृष्ठ ४७

मध्य-वर्ग का एक विशेष प्रकार का प्रतिनिधि है। वह अपने पुराने विचारों का है और अपने व्यवहार में नैतिकता का आग्रह रखता है।"[१] इस प्रकार 'सेवासदन' की कहानी भी मध्य-वर्गीय परिवारों की कहानी है। उसमें प्रायः सभी पात्र मध्य-वर्गीय संस्कारों को अपनाए हुए चलते हैं।

'वरदान','प्रतिज्ञा' और 'सेवासदन' के पश्चात् मध्य-वर्गीय समाज का उपन्यास 'निर्मला' हमारे सामने आता है। इसके पूर्व 'प्रेमाश्रम' लिखा जा चुका था, पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद किसानों और जमींदारों के संघर्ष में ही उलझ जाते हैं। मध्य-वर्गीय समाज का चित्रण उसमें प्रधान नहीं है। 'निर्मला' में दो समस्याएँ हैं:—(१) दहेज-प्रथा और (२) एक ऐसे वृद्ध से जिसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी हो एक युवा लड़की का विवाह। उपन्यास की कथा तीन मध्य-वर्गीय परिवारों के जीवन से गुथी हुई है—एक परिवार बाबू उदयभानु का है, दूसरा बाबू तोताराम का और तीसरा सिन्हा साहब का। इन तीनों परिवारों के पारिवारिक जीवन के चित्रण में मध्य-वर्ग के संस्कारों और धारणाओं का बड़ा ही सफल अंकन हुआ है।

निर्मला के उपरान्त 'रंगभूमि' आता है।' 'रंगभूमि' में औद्योगिक समस्या प्रमुख है; अतः इस उपन्यास में थैलीशाहों अथवा पूँजीपतियों का उल्लेख ही अधिक है। किसानों और ग्रामीण जनता का भी चित्रण समानान्तर हुआ है। अतः 'रंगभूमि' निम्न और उच्च-वर्गों के जीवन से सम्बन्ध रखता है। 'कायाकल्प' में अवश्य उच्च, मध्य और निम्न-वर्गों का सम्मिलित चित्रण द्रष्टव्य है। औपन्यासिक कथा के दो भाग इस उपन्यास में देखे जा सकते हैं। एक भाग का सम्बन्ध सामाजिक समस्या से है और दूसरे का सम्बन्ध आध्यात्मिक और रहस्यमय लोक के चित्रण से। प्रस्तुत उपन्यास में छः प्रसंग हैं: (१) चक्रधर-मनोरमा का प्रसंग, (२) अहिल्या-चक्रधर की कथा (३) मनोरमा-विशालसिंह की कहानी, (४) रोहिणी-विशालसिंह की कथा, (५) महेन्द्रसिंह-देवप्रिय की कहानी, और (६) हरिसेवक-लौंगी की कथा।

उपर्युक्त प्रसंगों में केवल चक्रधर का प्रारम्भिक जीवन और उसका परिवार ही मध्य-वर्ग से सम्बन्धित है। चक्रधर का प्रारम्भिक जीवन, उसके विचार और आचरण प्रगतिशील मध्य-वर्गीय समाज के प्रतीक हैं, जबकि उसका पिता ब्रजधर पुरानी पीढ़ी के मध्य-वर्गीय समाज का प्रतिनिधि है।

'कायाकल्प' के पश्चात मध्य-वर्ग का सबसे प्रसिद्ध और विशष्ट उपन्यास 'ग़बन' लिखा गया है। वास्तव में देखा जाय तो 'ग़बन' प्रेमचन्द का, मध्य-वर्ग की समस्याओं का उद्घाटन करने वाला सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'ग़बन' का प्रमुख पात्र रमाकांत

---

१. प्रेमचंद : एक विवेचना—पृष्ठ ४६

है । रमाकांत के एवं अन्य प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में लेखक विशेष सजग दिखाई देता है; पर यहाँ भी मध्य-वर्गीय समाज की समस्याएँ पृष्ठभूमि में कार्य करती हैं । इस प्रकार 'ग़बन' भी समस्यामूलक उपन्यास ठहरता है । रमाकांत स्वयं मध्य-वर्गीय समाज का व्यक्ति है एवं मध्य-वर्ग की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं । मध्य-वर्गीय सम्मान-भावना ही 'ग़बन' के कथासार का आधार है । इसी सम्मान-भावना के कारण ही रमाकांत ग़बन करता है और अपने जीवन को संकट में डालता है ।

'ग़बन' के बाद 'कर्मभूमि', 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' लिखे गए । 'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास है । इसमें अभिजात वर्ग की झाँकियों के साथ-साथ संघर्षशील मध्य-वर्ग का चित्रण मिलता है । संभवतः यह उपन्यास भी मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाला बनता । 'कर्मभूमि' अछूतों की समस्या के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या से सम्बन्धित है । इसमें मध्य-वर्ग वैशिष्टय प्राप्त नहीं कर पाता । अमरकांत की पत्नी और विधवा सास आर्थिक दृष्टि से मध्य-वर्ग की सीमा में नहीं आते अतः उनकी समस्या मध्य-वर्गीय न होकर सामान्य हो गई है । 'गोदान' किसान वर्ग का उपन्यास है—ग्रामीण जनता का महाकाव्य है । पूँजी-पतियों और मिलमालिकों का समावेश अभिजात-वर्ग के क्षयी स्वरूप को व्यक्त करने के निमित्त है । यह बात दूसरी है कि उसमें एक-दो पात्र मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखते हों । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद के उपन्यासों में मध्य-वर्ग का विशेष महत्व है ।

प्रेमचन्द की साहित्य संबन्धी मान्यताएँ

प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताओं के सम्बन्ध में काफी लिखा गया है। आलोचकों ने अपनी विचार-धारा को दृष्टि में रखते हुए या तो उनकी इन मान्यताओं को अपने अनुकूल प्रदर्शित किया है अथवा उनका खण्डन किया है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताओं की वास्तविकता छिपी रह गई है।

मनुष्य में वैचारिक परिवर्तन होते हैं। जीवन-अनुभवों से वह अनेक नई-नई बातें सीखता है। यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता। पहले मनुष्य में अपनी पूर्व धारणाओं के प्रति एक अविश्वास का भाव जाग्रत होता है। इस स्थिति में वह एकदम नई धारणाओं को अपने हृदय में स्थान नहीं दे देता; क्योंकि उसे अपनी पूर्व धारणाओं से, अविश्वास होते हुए भी, मोह बना रहता है। फिर धीरे-धीरे उसके अविश्वास-भाव की पुष्टि होती है और वह नए विचारों की ओर आकर्षित होता है। एक समय आता है जब कि वह पूरी तरह से बदल चुका होता है। अतः यह वैचारिक परिवर्तन कुछ समय लेता है—कम या अधिक। जिस साहित्यकार में वैचारिक परिवर्तन होता है उसके साहित्य में उपर्युक्त स्थितियाँ कम या अधिक रूप में विद्यमान रहती हैं। कहीं-कहीं असंगतियाँ भी पाई जाती हैं। अतः उसके साहित्य में हमें उपर्युक्त मनःस्थितियों की वैज्ञानिक खोज करनी चाहिए तभी हम उसकी वास्तविक मान्यताओं को क्रमबद्ध रूप में समझ सकेंगे। प्रेमचन्द के साथ यही बात है।

उनमें एक विशेष बात और देखने में आती है। वह यह कि पारिभाषिक (टेकनिकल) शब्दों का जो अर्थ वे लेते हैं, वह कोई सर्वमान्य नहीं है। ऐसे पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत अनेक शब्द हैं, यथा शृंगार, आनन्द, आदर्श, यथार्थ, कला के लिये, सौन्दर्यवृत्ति आदि। प्रेमचन्द ने इन पारिभाषिक शब्दों का क्या अर्थ लिया है हमें सर्वप्रथम उसके मूल में जाना चाहिये तभी हमारी व्याख्या उनके प्रति उचित न्याय कर सकेगी।

प्रेमचन्द आदर्शवादी थे अथवा यथार्थवादी अथवा उनके दृष्टिकोण में दोनों का सम्मिश्रण था इसका निर्णय करने के पूर्व, प्रेमचन्द ने साहित्य और कला को किस रूप में ग्रहण किया था उसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

साहित्य

प्रेमचन्द साहित्य की परिभाषा अपने ढंग से करते हैं। वास्तव में, किसी एक सत्य को लेकर साहित्य की परिभाषा सीमित नहीं की जा सकती। विरोधी तत्त्वों को हम अलग-अलग कर सकते हैं, पर पूरक तत्त्वों को प्रधान या अप्रधान की श्रेणी में ही विभाजित किया जा सकता है। प्रेमचन्द प्रगतिशील साहित्यकार थे। वे प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी व अप्रगतिशील तत्त्वों के विरोधी थे। 'कलावाद' से उनका साहित्य कोसों दूर है। कलावाद—काल्पनिक, श्लील-अश्लील की सीमाओं से मुक्त नितान्त वैयक्तिक भावनाओं का प्रतीक है। प्रेमचन्द ऐसे साहित्य के समर्थक नहीं थे। वे साहित्य का वास्तविक जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते हैं। जीवन साहित्य का आधार है, उससे कटकर साहित्य अपना महत्त्व खो देता है। वे लिखते हैं—

"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है।"[1]

अब सहज ही प्रश्न उठता है कि जीवन क्या है और उसका क्या उद्देश्य है ? प्रेमचन्द जीवन को सामाजिक सापेक्षता में ही देखते हैं। वे उसमें गति और संघर्ष ही नहीं चाहते प्रत्युत सद्भावों की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य मानते हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण महान् है। ऐसे जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है ? प्रेमचन्द कहते हैं–

"जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है।"[2]

यहाँ आनन्द से अभिप्राय मात्र मनोरंजन अथवा भौतिक सुख-सुविधा के प्राप्ति से नहीं है। प्रेमचन्द आनन्द को मानसिक तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं और इसी से आनन्द का आधार सुन्दर और सत्य बताते हैं। जैसा कि वे आगे लिखते हैं—

"किसी को वह (आनन्द) रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्साना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है।"[3]

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ७३
२. कुछ विचार—पृष्ठ ७३
३. कुछ विचार—पृष्ठ ७३

इसीलिए साहित्य की परिभाषा जीवन, आनन्द, सत्य और सुन्दर के मेल से बनती है। जो कुछ सत्य और सुन्दर है, वही साहित्य है। आनन्द के साथ सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है—

"जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है।"[१]

प्रेमचन्द साहित्यकार को सत्य और सौन्दर्य का आराधक मानते हैं और उसी की अभिव्यक्ति को साहित्य की संज्ञा देते हैं—

"मनुष्य ने जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं।"[२]

लेकिन सत्य की खोज केवल साहित्यकार ही नहीं करता, दार्शनिक और वैज्ञानिक भी करते हैं। प्रेमचन्द सत्य से आत्मा का तीन प्रकार का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं कि जहाँ सत्य आनन्द का स्रोत बन जाए वहीं वह साहित्य की सीमा में आ जाता है, यथा—

"सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है। प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विपय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है।"[३]

अतः साहित्य जीवन-आनन्द के लिये सत्य की खोज और सुन्दर की प्रतिष्ठा करता है। साहित्यकार जीवन की अवहेलना नहीं कर सकता। जब समाज में जीवन का स्तर गिरने लगता है तब साहित्यकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसकी आलोचना करे। साहित्य जीवन की व्याख्या है, आलोचना है। वह हमें जीवन की महत्ता से परिचित कराता है। प्रेमचन्द कहते हैं—

"साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, काव्य के—उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।"[४]

इतना ही नहीं वह मानव-जीवन से सम्बन्धित समस्त समस्याओं पर भी विचार करता है, उनको हल करने की प्रयत्न करता है। मात्र आलोचना

१. कुछ विचार—पृष्ठ ७४
२. कुछ विचार—पृष्ठ २६
३. कुछ विचार—पृष्ठ ७४
४. कुछ विचार—पृष्ठ ६

जीवन के लिये पर्याप्त नहीं है। इसीलिए प्रेमचन्द कहते हैं कि साहित्य का लक्ष्य जीवन का सही रास्ता बताना है, जिससे उसकी पवित्रता एवं महानता बनी रहे—

"साहित्य का उद्देश्य जीवन के ग्रादर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर ग्रानेवाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। ग्रगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या ? जीवन की ग्रालोचना कीजिए, चाहे चित्र खींचिये, ग्रार्ट के लिये लिखिए, चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइये, चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए, ग्रगर उससे हमें जीवन का ग्रच्छा मार्ग नहीं मिलता तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है न ग्रच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, ग्रलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे ग्रौर पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।"[१]

साहित्य की उपर्युक्त परिभाषा से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह 'नीतिशास्त्र' का पर्यायवाची है। प्रेमचन्द साहित्य ग्रौर नीतिशास्त्र का लक्ष्य एक मानते हैं। ग्रन्तर केवल उपदेश की विधि में है। 'नीतिशास्त्र' का सम्बन्ध मस्तिष्क की तर्कशक्ति से है, जब कि साहित्य का हृद्जगत भावों से—

"नीति-शास्त्र ग्रौर साहित्य-शास्त्र का एक लक्ष्य है केवल उपदेश की विधि में ग्रन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों ग्रौर उपदेशों के द्वारा बुद्धि ग्रौर मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है। साहित्य ने ग्रपने लिए मानसिक ग्रवस्थाग्रों ग्रौर भावों का क्षेत्र चुन लिया है।"[२]

इस प्रकार साहित्य भावों के द्वारा मनुष्य को उसके मौलिक ग्रकृत्रिम यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

"मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या ग्रौर परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह ग्रपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को ग्रपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है, उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके।"[३]

साहित्य जाति के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हिस्सा बँटाता है। साहित्यिक ग्रादर्शों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—

१. 'हंस'—जनवरी, १९३५
२. कुछ विचार—पृष्ठ ८
३. कुछ विचार—पृष्ठ ७९

"किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई।"[1]

अतः प्रेमचंद साहित्य को मानवीय उत्थान का साधन मानते हैं और अपने पूर्व की महान् सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करते हैं।

कला, सामयिकता और साहित्यकार

कला के संबंध में प्रेमचंद के विचारों में कुछ असंगतियाँ दिखाई देती हैं कहीं वे 'कला के लिये कला' का स्पष्ट समर्थन करते हैं, तो कहीं सैद्धान्तिक रूप से उसका महत्व प्रतिपादित कर मात्र वर्तमान में उसकी उपादेयता स्वीकार करते हैं तो कहीं उसका स्पष्ट खंडन करते हैं।

प्रेमचंद 'कलावादी' नहीं थे, यह उनके समस्त साहित्य से स्पष्ट है। प्रेमचंद के विरोधियों ने या प्रेमचंदयुगीन कुछ आलोचकों ने उनके साहित्य पर कलाहीनता का आरोप भी लगाया था। किसी साहित्यकार की कृति को 'कलावादी' ठहराना एक अलग बात है तथा उसमें कलाहीनता बताना सर्वथा उससे भिन्न। प्रेमचंद संभवतः साहित्य और कला के संबंधों को समझाते समय 'कलावाद' और 'कला' में अंतर नहीं समझ पाए थे और इसी कारण उनके वक्तव्यों में असंगतियाँ मिलती हैं। वास्तव में वे 'कलावादी' नहीं थे। यद्यपि साहित्य में कला का समावेश आवश्यक समझते थे उस समय के 'कलावादी' आलोचकों को इससे संतोष न था। वे प्रेमचंद के साहित्य में 'कला के लिए कला' की अभिव्यक्ति चाहते थे और जब उन्हें यह अभिव्यक्ति नहीं मिली तो उन्होंने निराश होकर प्रेमचंद के साहित्य पर प्रचारवादी तथा कलाहीनता के आरोप लगाये।

यदि तनिक गहराई से देखा जाय तो प्रेमचंद के कला-संबंधी विचारों में असंगतियाँ नहीं है, यह समझ में आ सकता है। इस दृष्टि से हमें उन भावों पर तटस्थ दृष्टि डालनी होगी जिनको प्रेमचंद विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के लिये ग्रहण करते हैं।

एक स्थान पर 'कला के लिए कला' सिद्धान्त को साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श घोषित करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं—

"साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।"[2]

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ८०

२. कुछ विचार—पृष्ठ ४१, ४२।

इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में 'कला के लिए कला' का समर्थन और क्या हो सकता है ? पर यह भी देखना आवश्यक है कि प्रेमचंद 'कला के लिए कला' का मतलब क्या समझते हैं। आगे चलकर वे 'कला के लिए कला' की व्याख्या करते हुए लिखते ह——

"वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।"[१]

अतः स्पष्ट है कि प्रेमचंद के लिये, 'कला के लिए कला' का अर्थ कलावादियों का अर्थ नहीं है। वे उसे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति समझते हैं और इसी कारण सामयिक तथा शाश्वत साहित्य का प्रश्न सामने आता है। वे लिखते हैं——

"....'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो। हम जब देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"[२]

यहाँ सिद्धान्त रूप में 'कला के लिए कला' का महत्व स्वीकार करते हुए भी वे वर्तमान सामयिक समस्याओं के समुख, उसके ग्रहण की उपादेयता अस्वीकार करते हैं। सामयिक समस्याओं को मौलिक प्रवृत्तियों के सम्मुख प्राथमिकता देनी चाहिये। उन्होंने कलावादियों की सामयिक उपेक्षा का समर्थन नहीं किया। वे 'कला के लिए कला' की झोंक में आकर लोकहित की चिंता न करने की बात नहीं कहते। कलावादियों के 'सौंदर्य' में श्लील-अश्लील में कोई अन्तर नहीं किया जाता। प्रेमचंद ने इस सौंदर्य-भावना को कहीं भी अच्छा नहीं बताया। अतः बिना 'कला के लिए कला' के प्रति प्रेमचंद का निजी दृष्टिकोण समझे एवं बिना उनके भावों की गहराई में उतरे उनके विचारों में असंगतियाँ बताना अनुचित है।

सम-सामयिक साहित्य और शाश्वत साहित्य के बारे में लिखते हुए प्रेमचंद कहते हैं कि सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ सामयिक साहित्य में कोई लोप नहीं हो जातीं। और जब तक वे मौलिक प्रवृत्तियाँ

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ४२।
२. कुछ विचार—पृष्ठ ४२।

उसमें विद्यमान हैं वह मिट नहीं सकता। चाहे उसका विषय कोई सामयिक समस्या हो और चाहे कोई शाश्वत तथ्य। प्रेमचंद एक उदाहरण देते हुए कहते हैं:—

'...टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हमलोग भी उसे पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं। पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं।"[१]

अत: वे कलावादियों की तरह लेखक को देशकाल के बंधन से मुक्त नहीं करते ; जब तक वह देशकाल का नहीं बनता, तब तक सर्वदेशीय और सर्वकालीन भी नहीं बन सकता। प्रेमचंद लिखते हैं:—

"साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिये उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"[२]

साहित्य मानवीय इतिहास का सच्चा लेखा-जोखा है। युग का प्रतिबिम्ब है—

"जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।"[३]

लेकिन प्रेमचंद ने सामयिकता का मात्र ऊपरी स्पर्श नहीं किया था। जैसा डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं:—

"उनका उद्देश्य सामयिकता व देशकाल की विशेषता से परे नहीं था, उनका साहित्य सामयिकता की सतह को छूनेवाला साहित्य नहीं था, उसमें गहराई से डूबने-वाला, देशकाल की विशेषताओं के परस्पर संबंध को चित्रित करनेवाला साहित्य था। इसीलिए वह इतना सशक्त और प्रभावशाली है।"[४]

१. कुछ विचार—पृष्ठ ७७।
२. कुछ विचार—पृष्ठ ७७।
३. कुछ विचार—पृष्ठ ७७।
४. प्रेमचंद और उनका युग—पृष्ठ १५२।

कला, उपयोगिता और आनंद के संबंध भी पर्याप्त विवादग्रस्त हैं। यहाँ भी "आनन्द" शब्द अपनी विशिष्टता का परिचायक है। प्रारम्भ में यह बताया जा चुका है कि प्रेमचंद आनन्द का आधार सुन्दर और सत्य मानते हैं। वह मनुष्य को मानसिक तृप्ति प्रदान करता है। उसे मनोरंजन या मनबहलाव के अर्थ में ग्रहण करने पर हम प्रेमचंद की वैचारिक वास्तविकता से दूर चले जाएँगे। कला और उपयोगिता के संबंध में प्रेमचंद लिखते हैं:—

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।"[१]

यहाँ भी आनन्द को प्रमुखता दी गई है। कला की उपयोगिता आनन्द के निमित्त भी है। जो साहित्यकार कला को उपयोगिता के लिए ग्रहण करता है वही युगधर्म को निबाहता है। ऐसा करने से वह मानव जाति को जीवन-आनन्द की ओर ले जाता है। आनन्द तक पहुँचना ही मनुष्य जाति का लक्ष्य है। जो लोग कला को उपयोगिता के लिए ग्रहण न करके 'कला के लिए ही' ग्रहण करते हैं, उनके संबंध में प्रेमचंद कहते हैं:—

"कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है; भक्ति, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चोंवाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुला पसीना बहा रही है, उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुन्दरता का बास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ? पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है।"[२]

यहाँ उनकी कला समस्त कलावादियों, व सौंदर्यवादियों से पृथक् दिख रही है। प्रेमचंद की कला हमें यही व्यापक दृष्टि प्रदान करती है। अतः प्रेमचंद का साहित्य कलापूर्ण है। वह, जैसा कि कुछ आलोचकों ने बताया है, कलाहीन नहीं

१. कुछ विचार—पृष्ठ १४
२. कुछ विचार—पृष्ठ १५-१६

है । कला के लिए' के समर्थक को उनके साहित्य में, यह सच है, जैसी कला वे चाहते हैं, उसके दर्शन नहीं होते । अतः वे अपनी संकीर्ण दृष्टि से देखने के कारण उनके साहित्य को ही कलाहीन घोषित कर देते हैं । प्रेमचंद ने स्पष्ट लिखा है:—

"कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है ।"[१]

कला की आवश्यकता पर उन्होंने पूरा-पूरा जोर दिया है, क्योंकि बिना कला के लेखक अपनी बात प्रभावशाली ढंग से नहीं कह सकता और इस प्रकार वह अपने उद्देश्य में भी सफल नहीं हो सकता । सामाजिक उत्तरदायित्व निबाहनेवाले लेखक कला की उपयोगिता को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते । कला क्रांति-भावना को तीव्रता प्रदान करती है । क्रांति से समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन मानव-जीवन को आनन्द की ओर ले जाता है । सत्य और सुन्दर की ओर ले जाता है । साहित्यकार इसी क्रांति का साधक व उपासक है । इसी क्रांति को लाने के लिए वह कला के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार करता है । कलायुक्त साहित्य प्रचार का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है । प्रेमचंद लिखते हैं:—

"मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है, प्रोपेगंडा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिये और इस तरह प्रोपेगंडा के लिये साहित्य में प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा ।"[२]

एक स्थल पर वे प्रचार की आवश्यकता बताते हुए लिखते हैं:—

"जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं । लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख नहीं सकता । यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े ।"[३]

अवश्य, वह प्रचारात्मक साहित्य अपने ऊँचे पद से गिर जाता है जो कला की उपेक्षा करके चलता है । साहित्य के द्वारा कलात्मक-प्रचार भी सत्य और सुन्दर की प्रतिष्ठा के लिये है । आनन्द के लिये है ।

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ २७

२. 'प्रेमचन्द'—ले० रामविलास शर्मा, पृष्ठ १३

३. कुछ विचार—पृष्ठ ४२

आनन्द और मनोरंजन शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। प्रेमचंद मनोरंजन को साहित्य का निकृष्ट उद्देश्य मानते हैं:—

"साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है।"[१]

साहित्यकार के लक्ष्य के संबंध में लिखते समय वे कहते हैं:—

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइये।"[२]

मनोरंजन को एकमात्र उद्देश्य मानकर जो रचना की जाएगी वह तत्वहीन होगी। कहानी-कला के संबंध में लिखते समय प्रेमचंद ने मनोरंजन की निकृष्टता के बारे में फिर लिखा है:—

"तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं।"[३]

आगे चलकर पाठकों का मन बहलानेवाले साहित्यकारों की तुलना वे भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरे से करते हैं:—

"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये।"[४]

अतः प्रेमचंद का साहित्य सत्य और सुन्दर की प्रतिष्ठा करनेवाला हमें मानसिक तृप्ति प्रदान करनेवाला, संघर्ष के लिये प्रेरित करनेवाला सत्साहित्य है। वह "दिमागी ऐयाशी" का साहित्य नहीं है। जीवन में शृंगारिक मनोभावों की सत्ता अवश्य है पर वे हमारे जीवन के अंगमात्र हैं। साहित्यकार को अपनी दृष्टि शृंगारिक मनोभावों तक ही सीमित नहीं कर लेनी चाहिये—

"क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरहव्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो, जिसमें दुनिया और

१. कुछ विचार—पृष्ठ ८
२. ,, ,, १७
३. ,, ,, ३०
४. ,, ,, ४६

दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र हैं, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और गुण के लिये गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"[1]

कुछ साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर यौन संबंधों का नग्न चित्रण करते हैं। अथवा श्लील-अश्लील के बन्धन से मुक्त साहित्य में अति श्रृंगार का प्रचार करते हैं। प्रेमचंद ऐसे कामोत्तेजक साहित्य के सख्त विरोधी थे। उन्होंने इस नंगी संस्कृति का सदैव लिखकर तथा प्लेटफार्मों से विरोध किया। समाज़ की नैतिक गिरावट के लिए बहुत कुछ साहित्य उत्तरदायी होता है। प्रेमचंद अश्लीलता को सहन नहीं कर सकते थे चाहे वह कलावादियों की ओर से प्रकट हो और चाहे यथार्थवादियों के। "भारतीय-साहित्य-परिषद" नामक टिप्पणी में परिषद् के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं:—

"एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बंधन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील श्रृंगार की नजीर देकर अश्लीलता की सफाई देता है। अगर कालिदास या वाल्मीकि या और किसी नए या पुराने साहित्यकार ने अश्लील श्रृंगार रचा है तो उसने सुरुचि और सौंदर्य की भावना की हत्या की है। जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाए, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गंदगी फैलाए, वह त्याज्य है, चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है। उसे नीचे गिराना नहीं।"[2]

रति-वर्णन या नग्न-विलास को साहित्य का ऊँचा आदर्श कौन लोग समझते हैं इस संबंध में प्रेमचंद आगे लिखते हैं:—

"जो आँख केवल नग्न चित्र ही में सौंदर्य देखती है, और जो रुचि केवल रति-वर्णन या नग्न-विलास में ही कवित्व का सबसे ऊँचा विकास देखती है, उसके स्वस्थ होने में हमें संदेह है। यह 'सुन्दर' का आशय न समझने की बरकत है। जो लोग दुनियाँ को अपनी मुट्ठी में बंद किए हुए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है। पर जहाँ फाका है और नग्नता है और पराधीनता है, वहाँ का साहित्य अगर नंगी कामुकता और निर्लज्ज रति-वर्णन पर मुग्ध है तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ और शायद दो-चार सदियों तक उसे गुलामी में और बसर करनी पड़ेगी।"[3]

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ७
२. 'हंस' मई १९३६
३. 'हंस' मई १९३६

अतः स्पष्ट है कि प्रेमचंद उस श्रृंगार के विरोधी थे जो हमें कुरुचि की ओर ल जाता है, जो समाज के नैतिकस्तर को गिराता है। श्रृंगार और प्रेम का हमारे जीवन में अस्तित्व है, लेकिन साहित्यकार को समय देखकर चलना चाहिये। 'रंगभूमि' में सोफी के मुख से प्रेमचंद यही बात कहलाते हैं। सोफी प्रभुसेवक की कविता पर टिप्पणी देती है:—

"तुम्हारी कविता उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग सुन्दर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश के हित में लगाओ। अवनति की दशा में श्रृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं होती, इसे तुम भी स्वीकार करोगे।"[1]

साहित्य के संबंध में प्रेमचंद की क्या मान्यता थी, वे उसके लिये कौन-कौन से अनिवार्य तत्व मानते थे उन पर भी एक दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है। मनोरंजन और विलासिता को ही साहित्य समझनेवालों से प्रेमचंद कहते हैं:—

"हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बैचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।"[2]

साहित्य युग का प्रतिबिम्ब होता है। जाति की गतिहीनता, उसका ह्रास ऐसे साहित्य से मालूम पड़ता है जिसमें प्रेम-वासना और वैराग्य-भावनाओं की प्रधानता हो:—

"पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और श्रृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने और समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।"[3]

एक स्थल पर प्रेमचंद श्रृंगार-रस के बारे में लिखते हैं:—

"साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है।"[4]

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ १५५

२. कुछ विचार—पृष्ठ २१

३. ,, ,, ७-८

४. ,, ,, ७४

उनके इस वाक्य से ऐसा लगता है कि वे श्रृंगार को ही साहित्य का एकमात्र उद्देश्य मान रहे हैं। यह वाक्य उनकी मान्यताओं में फिर असंगति उत्पन्न करता है। लेकिन वास्तव में असंगति कोई नहीं है। यहाँ श्रृंगार का अर्थ उन्होंने सौन्दर्य से लिया है। जैसा वे आगे लिखते हैं:—

"कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो श्रृंगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से संबंध रखे, वह साहित्य नहीं है।"[1]

प्रेमचंद ने सौन्दर्य-प्रेम पर बहुत जोर दिया है। लेकिन यह सौंदर्य-भावना शारीरिक नहीं है। उसका स्वरूप मानसिक है जो हमारे हृदय का संस्कार करता है। सौंदर्य को देखकर हम मुग्ध होते हैं, उत्तेजित नहीं। प्रेमचंद लिखते हैं:—

"कलाकार हममें सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता।"[2]

"जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।"[3]

साम्प्रदायिक-भावना को साहित्य का लक्ष्य बताते हुए उन्होंने लिखा है:—

"जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो, सुरुचि को बिगाड़ता हो अथवा साम्प्रदायिक सद्भावना में बाधा डालता हो, ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज प्रोत्साहित न करेगी।"[4]

अतः साहित्यकार को उच्च भावों की अभिव्यक्ति करनी चाहिये:—

"साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हमें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है, जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है, द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है।[5]"

साहित्य के विचारगत और कलागत तत्त्वों को प्रेमचन्द एक साथ लिखते हैं—

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ७४
२. " " ११
३. " " ८
४. 'हंस' मई, १९३६
५. " " ११

"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।"[१]

उपर्युक्त साहित्य के निर्माता का स्थान भी ऊँचा होना चाहिये। यदि साहित्यकार ऊँचे दर्जे का मनुष्य नहीं है तो वह सत्-साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। इसीलिये हमें पहले मनुष्य बनने की साधना करनी चाहिये फिर साहित्यकार बनने की। प्रेमचन्द के मत से साहित्यकार को सत्यभाषी होना चाहिये। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, मनुष्यत्व को जगाता है, सद्भावों का संचार करता है तथा हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है। साहित्य के लक्ष्य को बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।"[२]

साहित्यकार का क्या कर्त्तव्य है? प्रेमचन्द कहते हैं—

"जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है, और उसकी न्यायवृत्ति तथा सौन्दर्यवृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।"[३]

लेकिन मात्र वकालत से काम नहीं चल सकता। साहित्यकार उपेक्षितों, तिरस्कृतों का पक्ष लेता अवश्य है लेकिन सत्य का आँचल नहीं छोड़ता है। वह एक सत्यवादी वकील है।...

"पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी।"[४]

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ६
२. कुछ विचार—पृष्ठ १७
३. ,, ,, ६
४. ,, ,, ६

आदर्शवाद और यथार्थवाद

इस सत्यवादिता के साथ ही साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सत्यवादी आदर्श और यथार्थ दोनों पर अपनी समान दृष्टि रखता है। प्रेमचन्द का यही सिद्धान्त था, जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। या यों कहा जाय कि वे यथार्थवादी आदर्शवाद के समर्थक थे। साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रचलित अर्थों से उनका क्या सम्बन्ध था यह उनके लेखों और उपन्यासों में देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने अनेक पहलुओं से यथार्थवाद और आदर्शवाद को देखा है, यथा—

१. उपयोगी यथार्थवाद

२. यथार्थवाद

३. अति यथार्थवाद

४. आदर्शवाद

५. अस्वाभाविक आदर्शवाद

उपयोगी यथार्थवाद से अभिप्राय है समाज और व्यक्ति का ऐसा यथार्थ-चित्रण जो मानव को विकास की ओर उन्मुख करे। इसमें 'असत्' पक्ष सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से चित्रित किया जाता है। 'सत्' पक्ष भी यथार्थ के अन्तर्गत है पर सत् के चित्रण में सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह तो मानव-कल्याण का स्वयं प्रतीक है। सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न 'असत्' पक्ष के साथ ही लगा हुआ है। समाज या व्यक्ति में जो अभाव है, दोष है या कुरूपताएँ हैं उनका यथार्थ-चित्रण यदि मानव-विकास के दृष्टिकोण से किया जायगा तो वह उपयोगी यथार्थवाद कहलाएगा। यहाँ सामाजिक स्वास्थ्य की ओर दृष्टि रखना लेखक का प्रथम कर्तव्य माना जाता है।

यथार्थवाद के अन्तर्गत लेखक सामाजिक हित-अहित की कोई चिन्ता नहीं करता। वह अपनी कला को फोटोग्राफी मानता है। जो है उसका ज्यों का त्यों चित्रण कर देना ही उसका धर्म है। वह भौतिक सत्य को ही सब कुछ समझता है। मौलिक सत्य में उसे विश्वास होता अवश्य है, लेकिन वह उसका चित्रण उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक वह भौतिक सत्य का रूप न धारण कर ले। यथार्थवाद के अन्तर्गत मनुष्य में पाई जानेवाली समस्त कु-प्रवृत्तियों का चित्रण होता है। वह नग्न और भयानक रूप में हमारे सामने आता है। यह नग्नता शिष्टता की सीमा को भी लाँघ जाती है, इसी प्रकार यह भयानकता विश्वास भावना तक को कुचल देती है और मनुष्य को निराशावादी या अविश्वासी बना देती है। यथार्थवाद के अन्तर्गत लेखक का कोई सामाजिक कर्तव्य नहीं होता

समाज उसके यथार्थवादी चित्रण से चौंक अवश्य जायगा पर वह उसमें सत्वृत्तियों का संचार नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत यदि वह सु-प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण करता है तब सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि सु-प्रवृत्तियाँ स्वयं में मानव-कल्याण की द्योतक हैं। यथार्थवादी लेखक कु-प्रवृत्तियों पर ही अपनी दृष्टि रखते हैं।

अति यथार्थवाद से अभिप्राय यथार्थ की अतिरंजना से है। उपयोगी यथार्थ-वाद के अन्तर्गत अल्परंजना रहती है। अल्परंजना सामाजिक सुधार के लिए उपयोगी प्रमाणित होती है, क्योंकि जहाँ लेखक का उद्देश्य न तो ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देना होता है और न अतिरंजना से काम लेकर उसे अस्वाभाविक स्थिति तक ले जाना। अति यथार्थवाद अन्य यथार्थवादियों की तरह 'कु' पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है। लेकिन अति यथार्थवादी झूठा होता है। मनुष्य का पतन किस सीमा तक हो सकता है—वह बताता है; चाहे उस सीमा तक मनुष्य पतित न भी हुआ हो। स्पष्ट है, ऐसा चित्रण मनुष्य को पतन की ओर ही ले जाएगा। समाज में अनाचार व व्यभिचार की ही प्रोत्साहित करेगा; क्योंकि उसे मानवी पतन-सीमा की यथार्थता प्रमाणित करनी होती है। अति यथार्थवाद समाज के लिये प्रत्येक स्थिति में घातक होता है। वह मनुष्य के क्षयी व रुग्ण मन का परिचायक है।

यथार्थ के शाब्दिक अर्थ के अनुसार, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, उसमें सत् और असत् दोनों पक्षों का समावेश है। जब यथार्थ "वाद" का रूप धारण कर लेता है तब वह मात्र 'असत्' या 'कु' के चित्रण का परिचायक हो जाता है। 'सु' का क्षेत्र आदर्शवाद ले लेता है। जो लोग 'सु' के चित्रण को भी यथार्थवाद के अन्तर्गत सम्मिलित कर शेते हैं, वे 'यथार्थ' के शाब्दिक अर्थ और प्रचलित यथार्थ-वाद के अर्थ में अन्तर नहीं करते।

आदर्शवाद मौलिक सत्य का उद्घाटन करता है। वह मनुष्य को मौलिक रूप में उपस्थित करता है। आज मनुष्य की क्या दशा है, इसकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो इस ओर ध्यान देता है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए। उसका वास्तविक रूप क्या है। आदर्शवादी महान् विचारक होता है।

यदि आदर्शवादी लेखक महान् विचारक नहीं है—बौद्धिक नहीं है तो वह या तो अपने आदर्श का स्तर ओछा रक्खेगा या फिर उसे अस्वाभाविक बना देगा। आदर्शवाद के अन्दर अस्वाभाविक तत्त्व तनिक-सी असावधानी से प्रवेश कर जाता है। इसी कारण आदर्शवादी लेखकों में यह दुर्बलता प्रायः पाई जाती है। अव्यावहारिक आदर्श को अस्वाभाविक आदर्शवाद कह सकते हैं।

आदर्शवादी सामाजिक स्वास्थ्य की ओर तो ध्यान देता ही है; वह वर्तमान समस्याओं से तटस्थ भी नहीं रहता। वर्तमान की सापेक्षता में ही वह अपना आदर्श सम्मुख रखता है। यदि आदर्शवादी ऐसा नहीं करे तो वह "कला के लिए कला" की श्रेणी में आ जाएगा। वह अलौकिक तथा काल्पनिक लोक में ही विचरण करता रहेगा।

प्रेमचन्द अपने लेखों और उपन्यासों के द्वारा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का समर्थन करते हैं। वे आदर्श और यथार्थ का समन्वय करते हैं। उनका दृष्टि-कोण उपयोगी यथार्थवाद और आदर्शवाद के समन्वय का है। अस्वाभाविक आदर्शवाद, यथार्थवाद और अति-यथार्थवाद का उन्होंने समर्थन नहीं किया। ये विचार लेखों के अतिरिक्त उनके उपन्यासों के प्रमुख पात्रों के मुख से भी व्यक्त किए गए हैं। अति आदर्शवाद और पात्रों के मुख से लेखक के बोलने के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।"[१]

आदर्शवाद का ध्येय बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—

"साहित्य और कला में केवल मानव-जीवन की नकल करने को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जाता। उसमें आदर्शों को रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय वही है कि वह सुन्दर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करे और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जाँच यही है कि उसमें आदर्श-चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभन में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं, छोटे-छोटे संकटों के सामने सिर झुका देते हैं। और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं जो प्रलोभनों को पैरों तले रौंदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।"[२]

अतः साहित्य में आदर्शवाद की स्थापना होनी चाहिए, लेकिन प्रेमचन्द सैद्धान्तिक रूप से व्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक थे। उनका आदर्श उपयोगिता का शत-प्रतिशत पहलू रखता है। वे लिखते हैं—

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ १०

२. 'हंस' मार्च, १९३५

"साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आनेवाली कठिनाइयों का सामना कर सकें।"[१]

वे यथार्थवादियों के दोषों का उल्लेख करते हुए उपयोगी यथार्थवाद से आदर्श-वाद का सम्मिश्रण करते हैं—

"यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या है, यह तो अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाएगा। वह साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श की मर्यादा का पालन करना चाहिये। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जान पड़े।"[२]

यथार्थ भी उपयोगिता का पहलू रखता है। प्रचलित यथार्थवाद में और प्रेमचन्द के यथार्थवाद में यही अन्तर है। प्रचलित यथार्थवाद के सम्बन्ध में "कायाकल्प" में चक्रधर एक स्थान पर कहता है—

"यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम यथार्थ ही को आदर्श मान लें, तो संसार नरक के तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर न पड़नी चाहिए, बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिये।"[३]

प्रेमचन्द यथार्थवाद की एकांगिता के बारे में लिखते हैं—

"यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते ह, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते ह, यशस्वी बनते हैं—उनको बदी का फल उल्टा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है।) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार

१. 'हंस' जनवरी, १६३५
२. कुछ विचार—पृष्ठ २५
३. 'कायाकल्प' पृष्ठ १२६

में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।"[1]

यह एकांगिता विशुद्ध यथार्थवाद के अन्तर्गत ही है। प्रेमचन्द उपयोगी यथार्थवाद से समझौता ही नहीं करते वरन् उसे आवश्यक भी मानते हैं; लेकिन वे विशुद्ध या अति यथार्थवाद के विरोधी हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं ज्यादा काला दिखाएँ जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है।"[2]

आगे चलकर विशुद्ध यथार्थवाद की अनुपयोगिता का मनोवैज्ञानिक कारण देते हुए वे लिखते हैं—

"फिर मानव-स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिये ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों?"[3]

जहाँ वे एक ओर विशुद्ध यथार्थवाद की अनुपयोगिता प्रकट करते हैं वहाँ दूसरी ओर आदर्श की स्थापना उपयोगिता की आधार-शिला पर ही करते हैं—

"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता

१. कुछ विचार—पृष्ठ ३९-४०
२. " " ०४
३. कुछ विचार—पृष्ठ ४०

है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ भावना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं ।"[१]

यदि किसी को अँधेरी कोठरी में कार्य करने में असन्तोष है और वह अपनी वर्तमान स्थिति में परिवर्तन चाहता है, तो सर्वप्रथम उसे आदर्शवाद की खुली हवा का ज्ञान होना आवश्यक है । तब उसे उस 'अँधेरी कोठरी' में पुनः कार्य करने की इच्छा नहीं होगी और वह अपने कार्यक्षेत्र को हवा से पूर्ण बनाने का उत्कट प्रयत्न करेगा ।

लेकिन प्रेमचन्द जितने सजग यथार्थ की स्थापना में हैं उतने ही आदर्श की—

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है । लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह सुख है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों—जिनमें जीवन न हो । किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है ।"[२]

वे अव्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक कभी नहीं रहे । उनमें उपयोगी यथार्थवाद और व्यावहारिक आदर्शवाद का अद्भुत समन्वय है । आगे चलकर वे लिखते हैं—

"इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो । उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं । आदर्श को सजीव बनाने ही के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये ।"[३]

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में भी अमरकांत और डा० शांतिकुमार के संवादों में आदर्श और यथार्थ के समन्वय की चर्चा आई है:—

"तुम आदर्श की धुन में व्यावहारिकता का बिलकुल विचार नहीं करते । कोरा आदर्शवाद, खयाली पुलाव है ।

अमर ने चकित होकर कहा—मैं तो समझता था, आप भी आदर्शवादी हैं ।

शान्तिकुमार ने मानों इस चोट को ढाल पर रोक कर कहा—मेरे आदर्शवाद में व्यावहारिकता को भी स्थान है ।

इसका अर्थ यह है कि आप गुड़ खाते हैं, गुलगुले से परहेज करते हैं ।

"जब तक मुझे रुपये कहीं से मिलने न लगें, तुम्हीं सोचो, मैं किस आधार पर नौकरी का परित्याग कर दूँ । पाठशाला मैंने खोली है । इसके संचालन का

---

१. कुछ विचार—पृष्ठ ४०
२. " " ४०-४१
३. वही पृष्ठ ४१

दायित्व मुझ पर है । इसके बन्द हो जाने पर मेरी बदनामी होगी । अगर तुम इसके संचालन का कोई स्थायी प्रबन्ध कर सकते हो, तो मैं आज इस्तीफा दे सकता हूँ, लेकिन बिना किसी आधार के मैं कुछ नहीं कर सकता । मैं इतना पक्का आदर्शवादी नहीं ।........

मुझे संसार का तुमसे ज्यादा तजरबा है, मेरा इतना जीवन नये-नये परीक्षणों में ही गुजरा है । मैंने जो तत्व निकाला है, यह है कि हमारा जीवन समझौते पर टिका हुआ है । अभी तुम मुझे जो चाहे समझो, पर एक समय आवेगा, जब तुम्हारी आँखें खुलेंगी और तुम्हें मालूम होगा कि जीवन में यथार्थ का महत्व आदर्श से जौ भर भी कम नहीं है ।"[1]

"आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" का सुलझा हुआ रूप उनके लेखों में द्रष्टव्य है, लेकिन यह स्पष्टता तभी दिखाई देगी जब विशुद्ध यथार्थवाद, अति यथार्थवाद, उपयोगी यथार्थवाद, आदर्शवाद और अति आदर्शवाद आदि के सूक्ष्म अंतर को सामने रखा जाय । जो आलोचक इस अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते वे या तो उनके विचारों में असंगतियाँ ढूँढ़ते हैं या फिर उन्हें आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर आते देखते हैं और ऐसा विश्वास प्रकट करते हैं कि प्रेमचंद अगर और जीवित रहते तो वे निश्चय ही साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद के समर्थक हो जाते । उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद अपनी साहित्यिक चेतना के प्रारम्भ से अंत तक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे । इस दृष्टि से उनमें कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता ।

---

१. 'कर्मभूमि' पृष्ठ ११०—१११

प्रेमचन्द : जीवन दर्शन

प्रेमचंद एक जागरूक कलाकार थे। कल्पना की अपेक्षा सत्य, अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा बहिर्दृष्टि, मृत्यु की अपेक्षा जीवन, निराशा की अपेक्षा आशा तथा कुरूपता की अपेक्षा सौन्दर्य के वे सच्चे उपासक थे। उन्होंने यथार्थ का आंचल कभी नहीं छोड़ा। यथार्थ के सुदृढ़ धरातल पर ही उन्होंने अपने आदर्श-लोक का निर्माण किया; जिसे उन्होंने स्वयं "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" क नाम दिया है। जीवन में जो कुछ स्वस्थ, सुन्दर, सत्य एवं कल्याणकारी है वही उन्हें ग्राह्य है, शेष सर्वथा त्याज्य। उन्होंने अंधकार को कभी प्रकाश पर छाने नहीं दिया। पशुता और दानवता के सामने मनुष्यता का सिर ऊँचा रक्खा। धन, अधिकार-मद, शोषण तथा प्रचलित धार्मिक अव्यवस्था के विरोध में उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया। वे पीड़ित, पद-दलित व उपेक्षित जनता के लेखक थे। स्वयं मजदूर थे, कलम के मजदूर। उनकी लेखनी फावड़े-कुदाली के समान युग-युग के संस्कारों, विश्वासों-धारणाओं रूपी कड़ी जमीन को खोदती चली गयी। प्रेमचंद भारत की महान् सांस्कृतिक परम्परा के एक अंग हैं। सादगी व भोलेपन के वे साक्षात् अवतार थे।

प्रेमचंद का जीवन-दर्शन अद्वितीय था। मानवतावादी लेखक होने के नाते. उनका विकसित 'मनुष्य' उनके साहित्य से कहीं महान् है। 'रंगभूमि' में सूरदास का गीत प्रेमचंद के जीवन-दर्शन का प्रतीक है। इस गीत में उनके जीवन का रहस्य भरा हुआ है:—

भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
वीरों का काम है लड़ना,
कुछ काम जगत में करना
क्यों निज मरजादा छोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
क्यों जीत की तुझको इच्छा,
क्यों हार की तुझको चिंता,

क्यों दुख से नाता जोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
तू रंगभूमि में आया
दिखलाने अपनी माया
क्यों धरम नीति को तोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?[१]

वे जीवन को एक खेल समझते थे । प्रत्येक प्राणी इस संसार रूपी मैदान में खिलाड़ी बनकर आता है और अपना-अपना खेल खेलकर चला जाता है। खेल में हार-जीत होती ही है । सूरदास कहता है, "सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते । हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती । दिल पर मालिन्य के छींटें भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं न चिढ़ते हैं । खेल में रोना कैसा ? खेल हँसने के लिये, दिल बहलाने के लिये है, रोने के लिये नहीं ।"[२]

उनके जीवन का यह खेल धर्म व नैतिकता पर आधारित है, "क्यों धरम नीति को तोड़े ?" उनके जीवन का मूलतंत्र है । वे 'विजय' को विजय के साधनों से महान् नहीं समझते । जीवन की सफलता विजय में इतनी निहित नहीं है जितनी उस विजय के पाने के साधनों में, चाहे उन साधनों से विजय मिले या न मिले । पराजय, अनैतिक प्रयत्नों की विजय से कहीं श्रेष्ठ है । सूरदास कहता है, "हमारी बड़ी भूल यह है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते । खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आएगा ? खेल तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े । जीतकर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं । यह हार-जीत तो जिन्दगानी के साथ हैं ।"[३]

प्रेमचंद के साहित्य में जीवन का यही दृष्टिकोण मिलेगा । वे बहुत हँसते थे । उनके पहुँचते ही मुर्दा गोष्ठियों में भी कहकहों की धूम सी मच जाती थी । हास्य उनके जीवन-दर्शन का एक अंग है । प्रेमचंद के उपन्यासों में जगह-जगह ऐसे स्थल आये हैं जहाँ प्रेमचंद अपने पात्रों को बेहद हँसाते हैं तथा जिनके साथ-साथ पाठक भी हँसते हैं । जीवन की गम्भीरतम, अत्यधिक निराशाजनक, विवशताजन्य तथा

१. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ ३२८
२. ,, (,, १) ,, १६०
३. ,, (,, २) ,, १४०

भयानक परिस्थितियों के बीच यह हास्य कोई साधारण चीज नहीं है। ऐसा लगता है, प्रेमचंद जीवन की विभीषकाओं को एक साधारण वस्तु समझते थे। वे विभीषकाएँ प्रेमचंद के साहसिक मन की चट्टान से टकराती थीं और लौट जाती थीं और एक उन्मुक्त हँसी सदैव वातावरण में गूँजती रहती थी। प्रेमचंद ने, जीवन की विपदाओं को, वास्तविक रूप में हँस-हँस कर झेला था।

सुख और दुख जीवन रथ के दो पहिए हैं। हास और रुदन मानव-जीवन की पूर्णता के लिये अनिवार्य हैं। एक के अभाव में दूसरे का कोई महत्व नहीं है। जो व्यक्ति दुख की सत्ता को अस्वीकार करता है वह एक वास्तविकता पर आवरण तो डालता ही है, समाज को अलौकिक जीवन की मृग-मरीचिका में भी भटका देता है। लौकिक जीवन से निर्लिप्त जीवन की सत्ता प्रेमचंद को मान्य नहीं थी। उनके सभी पात्र सुख-दुख की धूप-छाँह में अपना लौकिक-जीवन व्यतीत करते हैं। हँसते हैं और रोते हैं। वे कोई ऐसे आदर्श महापुरुष अथवा अतिमानव नहीं हैं जो सुख-दुख में समभाव धारण करते हैं। उनके पात्र शत-प्रतिशत मनुष्य हैं और प्रेमचंद को उनकी मानवीय दुर्बलताओं से प्रेम है, समानुभूति है। जहाँ एक ओर उनके पात्र सुख-दुख में हँसते और रोते हैं वहाँ दूसरी ओर ऐसा नहीं है कि वे दुख में निराश होकर आत्महत्या करलें अथवा सुख के मद में मानवीय मूल्यों को भूल जाएँ। मनुष्य के सम्मुख सबसे बड़ी लौकिक वेदना मृत्यु है; और जब वह असमय ही हो जाय तब और भी मर्मान्तिक है। मृत्यु मानव जीवन में सबसे महत्वपूर्ण घटना है। मृत्यु मानव-जीवन का अनिवार्य अंग होने के कारण उपेक्षित वस्तु नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों में जहाँ किसी पात्र की मृत्यु होती है वहाँ का वातावरण और वर्णन कितना गम्भीर और दहला देने वाला होता है, यह देखते ही बनता है। प्रायः औसत बुद्धि और हृदय की औसत गहराईवाले लेखक मृत्यु जैसे मर्मस्पर्शी प्रसंग को एकदम साधारण घटना समझकर छोड़ से जाते हैं। किसी पात्र की मृत्यु हो गई और मानो कुछ हुआ ही नहीं। कथा आगे बढ़ती जाती है। लेकिन प्रेमचंद के साथ ऐसी बात नहीं है। मृत्यु को दो पंक्तियों में अखबारी समाचार की तरह लिखकर वे आगे नहीं बढ़ जाते वरन् डूबते-उतराते हैं और अपने महत् जीवन-अनुभव से जो कुछ उन्होंने ग्रहण किया है वह पाठकों के सामने रखते हैं। इतना मर्मस्पर्शी प्रसंग यदि पाठक को रुला न सका तो लेखक की जीवन-साधना उथली ही मानी जाएगी। प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्णित मृत्यु प्रसंगों के कुछ उद्धरण, जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायक होंगे:—

(क) "बसंत कुमार ने एक बार फिर जोर मारा, पर हाथ-पाँव न हिल सके। तब उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। तट पर लोगों ने डूबते देखा। दो चार आदमी पानी में कूदे, पर एक ही क्षण में बसंतकुमार लहरों में समा गए।

केवल कमल के फूल पानी पर तैरते रह गए, मानों उस जीवन का अंत हो जाने के बाद उनकी अतृप्त लालसा अपनी रक्तरंजित छटा दिखा रही हो ।[1]

(ख) "हमारा अन्त समय कैसा धन्य होता है । वह हमारे पास ऐसे-ऐसे अहितकारियों को खींच लाता है, जो कुछ दिन पूर्व हमारा मुख नहीं देखना चाहते थे, और जिन्हें इस शक्ति के अतिरिक्त संसार की कोई अन्य शक्ति पराजित न कर सकती थी । हाँ, यह समय ऐसा ही बलवान् है और बड़े-बड़े बलवान शत्रुओं को हमारे अधीन कर देता है । जिन पर हम कभी विजय न प्राप्त कर सकते थे, उन पर हमको यह समय विजयी बना देता है । जिन पर हम किसी शस्त्रसे अधिकार न पा सकते थे, उन पर यह समय शरीर के शक्तिहीन हो जाने पर भी हमको विजयी बना देता है । आज पूरे वर्ष भर के पश्चात् प्रताप ने इस घर में पदार्पण किया । सुशीला की आँखें बन्द थीं, पर मुखमंडल ऐसा विकसित था, जैसे प्रभातकाल का कमल ।"[2]

(ग) "अँधेरा हो चला था । सारे गृह में शोकमय और भयावह सन्नाटा छाया हुआ था । रोनेवाले रोते थे, पर कंठ बाँध-बाँध कर । बातें होती थीं, पर दब स्वरों से । सुशीला भूमिपर पड़ी हुई थी । वह सुकुमार अंग, जो कभी माता के अंक में पला, कभी प्रेमांक में पोढ़ा, कभी फूलों की सेज पर सोया, इस समय भूमि पर पड़ा हुआ था । अभी तक नाड़ी मन्द-मन्द गति से चल रही थी, मुन्शीजी शोक और निराशा नद में मग्न उसके सिर की ओर बैठे हुए थे । अकस्मात् उसने सिर उठाया और दोनों हाथों से मुंशीजी का चरण पकड़ लिया । प्राण उड़ गये । दोनों कर उनके चरण का मण्डल बाँधे ही रहे । यह उसके जीवन की अन्तिम क्रिया थी ।

रोनेवाले, रोओ, क्योंकि तुम रोने के अतिरिक्त कर ही क्या सकते हो ? तुम्हें इस समय कोई कितनी ही सान्त्वना दे, पर तुम्हारे नेत्र अश्रुप्रवाह को न रोक सकेंगे । रोना तुम्हारा कर्त्तव्य है । जीवन में रोने के अवसर कदाचित् ही मिलते हैं । क्या इस समय तुम्हारे नेत्र शुष्क हो जायेंगे ? आँसुओं के तार बँधे हुए थे, सिसकियों के शब्द आ रहे थे कि महराजिन दीपक जलाकर घर में लायी । थोड़ी ही देर पहिले सुशीला के जीवन का दीप बुझ चुका था ।"[3]

(घ) "लौंगी ने दोनों फैले हुए हाथों के बीच में अपना सिर दिया और उस अन्तिम प्रेमालिंगन के आनन्द में विह्वल हो गई । इस निर्जीव, मरणोन्मुख प्राणी के आलिंगन में उसने उस आत्मबल, विश्वास और तृप्ति का अनुभव किया, जो उसके लिये अभूतपूर्व था । इस आनन्द में वह शोक भूल गई । पचीस वर्ष के दाम्पत्य जीवन में उसने कभी इतना आनन्द न पाया था । निर्दय अविश्वास रह रहकर

---

१. प्रतिज्ञा—पृ० २०-२६
२. वरदान—पृ० ४७
३. वरदान—पृ० ५३

उसे तड़पाता रहता था। उसे सदैव यह शंका बनी रहती थी कि वह डोंगी पार लगती या मँझधार में डूब जाती है। वायु का हलका-सा वेग, लहरों का हलका-सा आन्दोलन नौका का हलका-सा कंपन उसे भयभीत कर देता था। आज उन सारी शंकाओं और वेदनाओं का अन्त हो गया। आज उसे मालूम हुआ कि जिसके चरणों पर मैंने अपने को समर्पित किया था, वह अन्त तक मेरा रहा। यह शोकमय कल्पना भी कितनी मधुर और शान्तिदायिनी थी।

वह इसी विस्मृति की दशा में थी कि मनोरमा का रोना सुनकर चौंक पड़ी और दीवान साहब के मुख की ओर देखा। तब उसने स्वामी के चरणों पर सिर रख दिया और फूट-फूट कर रोने लगी। एक क्षण में सारे घर में कुहराम मच गया। नौकर-चाकर सभी रोने लगे। जिन नौकरों को दीवान साहब के मुँह से नित्य घुड़कियाँ मिलती थीं, वे भी रो रहे थे। मृत्यु में मानसिक प्रवृत्तियों को शान्त करने की विलक्षण शक्ति होती है। ऐसे विरले ही प्राणी संसार में होंगे, जिनके अन्तःकरण मृत्यु के प्रकाश से आलोकित न हो जाएँ। अगर कोई ऐसा मनुष्य है, तो उसे पशु समझो। हरिसेवक की कृपणता, कठोरता, संकीर्णता, धूर्तता एवं सारे दुर्गुण, जिनके कारण वह अपने जीवन में बदनाम रहे, इस विशाल प्रेम के प्रवाह में बह गये।"[१]

(ङ) "राजा साहब ने यह करुण विलाप सुना और उनके पैरों तले जमीन निकल गयी। उन्होंने विधि को परास्त करने का संकल्प किया था। विधि ने उन्हें परास्त कर दिया। वह विधि को हाथों का खिलौना बनाना चाहते थे। विधि ने दिखा दिया, तुम मेरे हाथ के खिलौने हो। वह अपनी आँखों से जो कुछ न देखना चाहते थे, वह देखना पड़ा और इतनी जल्दी। आज ही वह मुंशी वज्रधर के पास से लौटे थे। आज ही उनके मुँह से वे अहंकारपूर्ण शब्द निकले थे। आह! कौन जानता था कि विधि इतनी जल्दी यह सर्वनाश कर देगा। इससे पहले कि वह अपने जीवन का अन्त कर दें, विधि ने उनकी आशाओं का अन्त कर दिया।"[२]

(च) "मुँह से 'तीन' शब्द निकलते ही बाबू साहब के सिर पर लाठी का ऐसा तुला हुआ हाथ पड़ा कि वह अचेत होकर जमीन पर गिर पड़े। मुँह से केवल इतना ही निकला, हाय, मार डाला।........हाय, बेचारे क्या सोचकर चले थे, क्या हो गया। जीवन, तुमसे ज्यादह असार भी दुनिया में कोई वस्तु है? क्या यह उस दीपक की भाँति ही क्षणभंगुर नहीं है, जो हवा के एक झोंके से बुझ जाता है? पानी के एक बुलबुले को देखते हो, लेकिन उसे टूटते भी कुछ देर लगती है,

---

१. कायाकल्प पृ० ३६३-३६४

२. „ पृ० ४६७

जीवन में उतना सार भी नहीं। साँस का भरोसा ही क्या ? और इसी नश्वरता पर हम अभिलाषाओं के कितने विशाल भवन बनाते हैं। नहीं जानते नीचे जानेवाली साँस ऊपर आएगी या नहीं, पर सोचते इतनी दूर की हैं, मानो हम अमर हैं।"[१]

'प्रेमचंद जीवन को यद्यपि खेल समझते थे, तथापि वह खेल निरुद्देश्य नहीं है। सुख और दुख के बीच मनुष्य अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहकर विश्व के रंगमंच पर अपना 'अभिनय' पूर्ण करता है। मनुष्य एक अभिनेता है, किन्तु वह कृत्रिम अभिनेता नहीं है।' प्रेमचंद उसे स्वाभाविक रूप में देखना चाहते हैं। उसका हँसना और रोना प्राकृतिक व्यापार है। उनके जीवन-दर्शन में अलौकिकता नाम की कोई चीज़ नहीं है, यद्यपि "कायाकल्प' में वे आध्यात्मिक-जीवन की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते दृष्टिगोचर होते एवं पुनर्जन्म में विश्वास व्यक्त करते हैं, तथापि 'कायाकल्प' प्रेमचंद के विचारों की कोई सीमा नहीं है। उन्होंने भौतिक-जीवन की वास्तविकता को ही व्यापक रूप में स्पर्श किया है। 'गोदान' में प्रो० मेहता के मुख से वे जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को, एक तरह से, व्यक्त करते हुए कहते हैं:—

"मेरे जीवन का क्या आदर्श है... मैं प्रकृति का पुजारी हूँ, और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ। जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुःखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिये आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द ! जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिये कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिये वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है।.....हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लाद कर, रूढ़ियों, विश्वासों और इतिहासों के मलवे के नीचे दबे पड़े हैं।....और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओंठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो।"[२]

जीवन किस प्रकार जिया जाय, इसका यह उत्तर है !

---

१. 'निर्मला' पृ० १५

२. 'गोदान' पृ० २६८

लेकिन प्रेमचंद का यह भौतिकवादी दृष्टिकोण भोग की भावना पर आधारित नहीं है। वे स्वयं 'फकीर' और 'तपस्वी' थे। उन्होंने धन की कभी चिंता नहीं की। कर्त्तव्य भूल कर वैयक्तिक सुख-सुविधाओं की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्हें अपने आदर्श सर्वाधिक प्रिय थे। धन के लोभ में पड़कर वे अपने आदर्शों और सिद्धान्तों से कभी च्युत नहीं हुए। प्रेमचंद का जीवन इसका प्रमाण है। आर्थिक संकटों के बीच वे कभी निराश नहीं हुए। महाराजा अलवर के निमंत्रण को अस्वीकार कर उन्होंने अपने आदर्शों के प्रति हार्दिक निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण दिया था।

इसी प्रकार उपन्यासों के आदर्श पात्र, जो उनके विचारों के वाहक हैं यही कहानी कहते हैं। गोविन्दी अपने पति खन्ना से कहती है:—

"सत्पुरुष धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं, तुम क्या हो, अगर तुममें सच्चाई है, न्याय है, त्याग है, पुरुषार्थ है, तो ये तुम्हारी पूजा करेंगे।"[१]

धन हमें आत्मसेवी, भोगी, और विलासी बना देता है। हम जीवन की पवित्रता को भूल जाते हैं। धन के लोभ ने आज मानव-जीवन को किस तरह विकृत कर दिया है उसका यथार्थ-चित्रण प्रेमचंद के साहित्य में मिलता है। स्वार्थ-भावना की जड़ यही धन-लिप्सा है। धन की लालसा ने सेवा-भावना को कुंठित कर रखा है। प्रेमचंद ने समाज के सामने सेवा-वृत्ति को प्रतिष्ठापित किया है। सेवा-मार्ग उन्हें अत्यधिक प्रिय था। व्यक्तिगत और समष्ठिगत दोनों रूपों में वे सेवाभाव को प्राथमिकता देते थे। राजा-प्रजा के संबंधों पर लिखते हुए वे कहते हैं:—

"आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का संबंध नहीं है, अब सेवक और सेव्य का संबंध है। अब अगर किसी राजा की इज्जत है, तो उसकी सेवा प्रवृत्ति के कारण। ...... जब तक कि कोई सेवा-मार्ग पर चलना नहीं सीखता, जनता के दिलों में घर नहीं कर पाता।"[२]

प्रेमचंद के प्राय: प्रत्येक उपन्यास में सेवा-धर्म की चर्चा मिलेगी। कितने ही पात्र सेवा-मार्ग के पथिक चित्रित किए गए हैं। 'कर्मभूमि' में अमरकांत, नैना, डा० शान्तिकुमार, 'गोदान' में होरी, प्रो० मेहता, 'कायाकल्प' में यशोदानन्दन, चक्रधर, मनोरमा, शंखधर, 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर, 'वरदान' में विट्ठलदास, पद्मसिंह, 'रंगभूमि' में सूरदास, प्रेमसेवक, सोफी, विनयसिंह, आदि सभी के जीवन का उद्देश्य सेवा है। अपने निबन्ध-संग्रह 'कुछ विचार' में भी प्रेमचंद एक जगह लिखते हैं:—

---

१. 'गोदान' पृ० ३६७

२. रंगभूमि (भाग १) पृ० ३६६

"अगर हमारा अंतर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।"[1]

'गोदान' में प्रो० मेहता के विचारों की व्याख्या करते समय प्रेमचंद ने सेवा-मार्ग अथवा कर्मयोग पर एक विस्तृत टिप्पणी दी है—

"प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है।......सभी मनस्वी प्राणियों में यह भावना (त्याग-भावना) छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर धन या नाम के पीछे पड़ा है, तो समझ लो कि अभी तक वह किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से उनका भौतिकवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। निःसन्देह प्रेमचंद में हमें एक उदात्त नैतिकता के दर्शन होते हैं। उनकी विचार-धारा अव्यावहारिक नहीं है। वे सिद्धान्त और जीवन की एकता के समर्थक थे। नकली जिन्दगी से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। 'गोदान' में प्रो० मेहता जीवन और सिद्धान्तों के संबंधों पर कहते हैं:—

"मैं चाहता हूँ, जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो।......मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें करते हैं कम्यूनिस्टों की सी, मगर जीवन है रईसों का सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।"[3]

प्रेमचंद के जीवन में सिद्धान्त-साम्य सर्वत्र मिलेगा। उनके साहित्य में जिस ईमानदारी के दर्शन होते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धान्त-रक्षा का आत्म-सम्मान से घनिष्ठ संबंध है। प्रेमचंद मनुष्य में आत्म-सम्मान देखना चाहते थे। उन्होंने मनुष्य मात्र को मरना और जीना सिखाना चाहा था। जनता को उत्तेजित करते हुए वे लिखते हैं:—

"जब तक जनता स्वयं अपनी रक्षा करना न सीखेगी, ईश्वर भी उसे अत्याचार से नहीं बचा सकता।

हमें सबसे पहले आत्मविश्वास की रक्षा करनी चाहिये। हम कायर और दब्बू हो गये हैं, अपमान और हानि चुपके से सह लेते हैं, ऐसे प्राणियों को तो स्वर्ग में भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता। जरूरत है कि हम निर्भीक और साहसी बनें, संकटों का सामना करें, मरना सीखें। जब तक हमें मरना न आएगा जीना भी न आएगा।"[4]

---

१. कुछ विचार पृ० १६
२. 'गोदान' पृ० ४१४-१५
३. 'गोदान' पृ० ६६
४. रंगभूमि (भाग २) पृ० २४५ (प्रभुसेवक का कथन)

प्रेमचंद के जीवन-दर्शन के ये मुख्य तत्व हैं; जिन्होंने उन्हें महान् बनाया है। ये तत्व विशुद्ध मानवीय हैं। इन्हीं के आधार पर प्रेमचंद के हृदय और बुद्धि की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि ये ही वे तत्व हैं जिनमें प्रेमचंद बने हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका यह जीवन-दर्शन उभर-उभर कर सामने आया है। इससे उनका मानवतावाद भली भाँति प्रकट हो जाता है। जो आलोचक गांधीवादी अथवा साम्यवादी विचारधाराओं के माध्यम से उनके जीवन-दर्शन की खोज करते हैं वे वास्तव में आधार की ओर नहीं देखते। प्रेमचंद न सही अर्थों में गांधीवादी थे और न साम्यवादी। उन्होंने राजनीतिज्ञों अथवा समाजशास्त्रियों द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अपने साहित्य का सृजन नहीं किया। मानवीय मूल्यों को उन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया है। यदि उन्होंने साम्यवाद का समर्थन किया है तो इसीलिए कि साम्यवादी समाज-व्यवस्था में मानवीय मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जाती। यही देखकर उन्होंने सोवियत रूस की 'नई सभ्यता' का ज़ोरदार समर्थन किया था। रवीन्द्र ठाकुर ने भी 'रूस की चिट्ठी' में सोवियत रूस की प्रशंसा की थी। इसी प्रकार प्रेमचंद ने गांधीवादी-दर्शन को इसीलिए अपनाया था कि उसमें भी मानवीय मूल्य अपनी पराकाष्ठा में विद्यमान थे। चाहे उसे गांधीवादी-दर्शन या गांधीवादी नैतिकता कहा जाय, चाहे भारतीय। सत्य, अहिंसा, स्वदेशी वस्तुओं, हरिजनों व शोषितों के प्रति प्रेम-भावना आदि बातें यदि उनमें मिलती हैं तो इस आधार पर हम उन्हें गांधीवादी नहीं ठहरा सकते, भले ही ये प्रेरणाएँ उन्हें गांधीजी के वैचारिक सम्पर्क से मिली हों। चाहे गांधीवाद से प्रभावित प्रेमचंद हों और चाहे साम्यवाद से, उनका मौलिक-दर्शन सर्वत्र स्पष्ट लक्षित है, तभी वे आज इतने महान् बन सके, तभी वे मनुष्य जाति को कुछ दे सके और तभी उनके साहित्य में इतनी गहराई आ सकी।

मानवतावादी प्रेमचंद

प्रेमचंद मानवतावादी लेखक थे। गांधीवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्होंने सीधी प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उन्होंने जो कुछ जाना, सीखा, लिखा, वह सब अपने अनुभव मात्र से। इसीलिए उनके साहित्य में अपरास्त शक्ति है। गांधीवाद और साम्यवाद कोई मानवता के विरोधी नहीं हैं, अतः प्रेमचंद के विचारों में जगह-जगह दोनों की झलक मिल जाती है। लेकिन उनका मानवतावाद सर्वत्र उभरा हुआ दीखता है। इसीलिए न उन्हें गांधीवादी ठहराया जा सकता है और न साम्यवादी। उन्होंने गांधीवादी और साम्यवादी दर्शन से, ऊपरी रूप से, प्रभावित होकर साहित्य-सर्जन नहीं किया, उनका व्यक्तित्व इन वादों की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। मूल समस्या प्रेमचंद के गांधीवाद से साम्यवाद की ओर मुड़ने की नहीं है, प्रत्युत उनके मानवतावाद के विकास की है। उनका मानवतावादी जीवन-दर्शन ही उनके समस्त विचारों के लिये उत्तरदायी है, और इसमें संदेह नहीं कि उनके मानवतावाद पर भारतीय-दर्शन की गहरी छाप है। गांधीवादी और साम्यवादी विचारों में भारतीय ऋषियों के चिन्तन और सिद्धान्तों की यदि कहीं झलक मिलती है तो उसे मौलिक नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार यदि प्रेमचंद में उनकी झलक मिलती है तो उन्हें कोई 'वादी' नहीं ठहराया जा सकता। वह तो भारतीय दर्शन की उपज के परिणामस्वरूप ही कहा जाएगा। उदाहरणार्थ, अहिंसा का सिद्धान्त है। यदि प्रेमचंद में अहिंसा-भाव मिलता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे गांधीवादी हो गए। अहिंसा भाव भारतीय-दर्शन की उपज है।

प्रेमचंद के मानवतावाद का विकास सुधारवाद के क्रान्ति की दिशा में हुआ है। जहाँ वे सुधारवादी हैं वहाँ वे गांधीवाद के अधिक निकट हैं और जहाँ क्रान्तिकारी हैं जहाँ साम्यवाद के। इस भेद के होते हुए भी सुधारवाद और क्रांतिकारी प्रेमचंद के मौलिक जीवन-दर्शन में अन्तर नहीं आया है। इस बात का प्रमाण सितम्बर १९३६ के 'हंस' में प्रकाशित प्रेमचंद का 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख है, जिस समय तक वे 'सोज़ेवतन' से 'मंगलसूत्र' तक की एक लम्बी राह पार कर चुके

होते हैं, फिर भी उनकी पूर्व मान्यताओं का आधार नहीं बदला है। जागीरदारी सभ्यता के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं:—

"जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिये जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हृदय को कानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था तो प्रजापालन भी करता था। न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिये करता था या अपनी आन-बान, रोब-दाब कायम रखने के लिये या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट जन-साधारण को अपने स्वार्थसाधन और धन-शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे, किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।"

यही बात उन्होंने 'जागरण' १६३२ के अंक में कही है:—

"किसी वर्ग को दूसरे से इतना भय न था कि वह अपना संगठन करता। प्रत्येक वर्ग का कार्यक्षेत्र नियत था। उस क्षेत्र के भीतर वह अपना जीवन व्यतीत करता था। ब्राह्मण, समाज और राष्ट्र का नेता था। इसलिए नहीं कि उसमें धर्मबल था, या बाहुबल था, बल्कि इसलिए कि उसमें ज्ञानबल था। वैश्य धन कमाता था, पर उस धन को जनहित में खर्च करता था। मनोवृत्तियाँ कुछ इस तरह हो गई थीं कि लोग अपने अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों का ज्यादा विचार रखते थे। उस वक्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ाता था, बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिन्ता रहती थी। वह नित्य अपने समय का कुछ न कुछ भाग प्रजा का दुःख-दर्द सुनने में व्यतीत करता था, जिससे प्रजा में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था। जमींदार केवल किसान से लगान वसूल करके चैन न करता था, बल्कि प्रजा के हित की रक्षा करता था। कुएँ और तालाब खुदवाना, अकाल और दुर्भिक्ष के समय प्रजा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देना, उसका धर्म था।"

५ सितम्बर १६३२ के अंक में प्रेमचंद भारतीय संस्कृति पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं:—

'हमारे देश की संस्कृति' कर्त्तव्य प्रधान, धर्म प्रधान, परमार्थ प्रधान, अहिंसा-प्रधान, व्रत और नियम प्रधान संस्कृति है। उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य का ऐसा विधान है कि एक दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बना रहे। व्यक्ति के लिये धन और शौर्य प्राप्त करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज

और राष्ट्र के हित के लिये होना चाहिये, भोग-विलास निर्बलों पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्व हैं और इस अधोवस्था में भी हम उन्हें अपनाए हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयाँ घुस गई हैं, यहाँ तक कि उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता, फिर भी ये तत्व प्रकाश-स्तम्भों की भाँति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामना करते हुए खड़े हैं। बहुत कुछ खो चुकने पर भी, अब तक इसमें जो कुछ रह गया है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तम्भों का प्रसाद है। अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भँवर में पड़कर डूब चुकी होती।"

प्रेमचंद का यह मानवतावादी-अहिंसावादी दृष्टिकोण १९३२-३६ तक बना रहा या यों कहा जाय कि जीवन पर्यन्त बना रहा। लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। प्रेमचंद में जहाँ गांधीवादी संस्कार मिलते हैं, विशेषकर अन्तिम दिनों में, साम्यवादी संस्कार भी परिलक्षित होते हैं। इन दोनों विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख में देखा जा सकता है। 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख के विचार प्रेमचंद की जीवन-साधना से प्रतिफलित हैं। उन्होंने कोई पलटा नहीं खाया है। उन्हें अपने आदर्शों का मूर्त रूप यदि सोवियत रूस में दिखाई दिया तो उन्होंने उसकी एक ईमानदार मानव के नाते प्रशंसा की और उस संस्कृति के विरोधियों पर तीव्र प्रहार भी किए।

प्रेमचंद की गांधी जी से कभी भेंट नहीं हो पाई; यद्यपि वे उनसे मिलने के लिये तरसते रहे। गांधी और प्रेमचंद का युग एक था। गांधी राजनीति में भारत का नेतृत्व कर रहे थे तो प्रेमचंद साहित्य में। प्रेमचंद के साहित्य का भी वही उद्देश्य था जो गांधी जी का था—स्वतन्त्रता प्राप्ति। 'विशाल भारत' (सन् १९३०) में प्रेमचंद लिखते हैं:—

"मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का उत्सुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो चार उच्च-कोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ, लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता-प्राप्ति ही हो।"

गांधी के मनुष्य से किसी का विरोध नहीं है। वे महान् व्यक्ति थे। गांधी जी में पाये जानेवाले अनेक गुण प्रेमचंद में भी विद्यमान थे, यथा—सादगी, धन के प्रति विरक्ति, अहिंसा-प्रेम, सत्यवादिता, श्रम-प्रेम आदि। प्रेमचंद गांधी जी को महामानव मानते थे। पर, गांधी जी से प्रभावित होकर प्रेमचंद ऐसे बने यह बात नहीं है। गांधी जी यदि उत्पन्न न भी हुए होते तो भी प्रेमचंद जो थे वही रहते।

अन्य बाहरी बातों में यदि कहीं साम्य पाया जाता है तो वह उद्देश्य की एकता के कारण। गांधी जी भी स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे और प्रेमचंद भी। समान उद्देश्यवालों में एक दूसरे के प्रति प्रेम और साम्य का पाया जाना स्वाभाविक है। लेकिन उद्देश्य एक होते हुए भी उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधनों में, विधियों में अन्तर हो सकता है। और यहीं प्रेमचन्द और गांधी जी में भी अन्तर उपस्थित हो जाता है। सुधारवादी प्रेमचन्द क्रान्तिकारी प्रेमचन्द तो बन गये पर गांधी जी अन्त तक सुधारवादी ही बने रहे। जहाँ प्रेमचन्द सुधारवादी हैं वहाँ गांधीवाद के निकट हैं और जहाँ क्रान्तिकारी हैं, वहीं साम्यवाद के।

प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन वास्तविक अनुभव से आया। प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही व्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक थे, यह बताया जा चुका है। गांधी जी के प्रयोगों पर उन्हें आदर्शवादी होने के कारण आस्था थी, पर यह आस्था अन्धी नहीं थी। प्रेमचन्द ने जब प्रत्यक्ष अनुभवों से यह देखा कि गांधी जी के तौर-तरीके अव्यावहारिक हैं तो उनका उनसे मतभेद हो गया। ७ अगस्त १९३३ के 'जागरण' की सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट लिखा—

"वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नहीं है। सम्भव है, उसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके, तो राष्ट्र को उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो सके, पर यह तो उसी तरह है कि रोगी की देह में रक्त बढ़ जाय, तो वह अवश्य अच्छा हो जाएगा। किसी काम की सफलता के लिये असम्भव शर्त लगा देने से हम सिद्धि के निकट नहीं पहुँचते। किसी प्रोग्राम को उसकी व्यावहारिकता के आधार पर ही जाँचना उचित है। जिस दिन देश में ऐसे आदमी बड़ी संख्या में निकल आयेंगे, जो अपना सर्वस्व राज्य के लिये त्यागने को तैयार हो जाएँ, उस दिन तो आप-ही-आप स्वराज्य हो जायगा। लेकिन ऐसा समय कभी आएगा, इसमें सन्देह है। ऐसी दशा में सत्याग्रही नीति से हमें अपने उद्देश्य की प्राप्ति की आशा नहीं।"

आगे चलकर वे गांधीवाद की अव्यावहारिकता के आलोचक बन गए। 'जागरण' १६ अप्रैल १९३४ के अंकमें सम्पादकीय-टिप्पणी में वे लिखते हैं—

"अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को भीतर की आवाज़ कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सम्भावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज़ नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है।"

'आत्मा की आवाज' पर से उनका विश्वास जाता रहा। "मंगल सूत्र" में प्रेमचन्द लिखते हैं—

"सन्तकुमार ने निस्संकोच भाव से कहा 'जरूरत सब कुछ सिखा देती है।

स्वरक्षा प्रकृति का पहला नियम है। वह जायदाद जो आपने बीस हजार में दे दी, आज दो लाख से कम की नहीं है।'

'वह दो लाख की नहीं, दस लाख की हो। मेरे लिए वह आत्मा को बेचने का प्रश्न है। मैं थोड़े से रुपयों के लिये अपनी आत्मा नहीं बेच सकता।'

दोनों मित्रों ने एक-दूसरे की ओर देखा और मुस्कराये। कितनी पुरानी दलील है और कितनी लचर। आत्मा जैसी चीज है कहाँ? और जब सारा संसार धोखे-धड़ी पर चल रहा है तो आत्मा कहाँ रही?...''[1]

इसी प्रकार तथाकथित प्रजातंत्र पर से भी उनका विश्वास उठ गया था। प्रजातन्त्र के मात्र सिद्धान्तों से उन्हें कोई लगाव न था, वे तो उसकी व्यावहारिकता पर दृष्टि रखते थे। 'गोदान' में मिर्जा के मुख से प्रेमचन्द तथाकथित प्रजातंत्र के बारे में कहते हैं—

"जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं। रुपये के जोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं।"

प्रेमचन्द कहते हैं, "मिर्जा साहब ने कुरान की आयतों से सिद्ध किया कि पुराने जमाने के बादशाहों के आदर्श कितने ऊँचे थे। आज तो हम उसकी तरफ ताक भी नहीं सकते। हमारी आँखों में चकाचौंध आ जायगी। बादशाह को खजाने की एक कौड़ी भी निजी खर्च में लाने का अधिकार न था। वह किताबें नकल करके, कपड़े सीकर, लड़कों को पढ़ाकर अपना गुजर करता था। मिर्जा ने आदर्श महीपों की एक लम्बी सूची गिना दी। कहाँ तो वे प्रजा को पालनेवाले बादशाह, और कहाँ आजकल के मंत्री और मिनिस्टर, जिन्हें पाँच, छः, सात, आठ हजार माहवार मिलना चाहिये। यह लूट है या डेमोक्रेसी?"[2]

इसी लूट का उल्लेख करते हुए 'मंगलसूत्र' में प्रेमचंद पं० देवकुमार के मुख से कहलाते हैं—

"क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है।... बुद्धि जवाब देती, यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधनों के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती, सबको समान अवसर कहाँ हैं? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज

१. मंगल-सूत्र पृ० ४६
२. गोदान पृ० १२६
३. गोदान पृ० १२६

खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सब का बराबर का अधिकार कैसे माना जाए।"[१]

प्रेमचन्द की मानवता तथाकथित प्रजातंत्र की पोषक नहीं थी। वे समाज से शोषित और शोषक के झगड़े को मिटा देना चाहते थे। शोषितों के प्रति प्रेमचन्द के हृदय में अपार श्रद्धा और प्रेम है। वस्तुत: वे शोषित जनता के ही लेखक थे। शोषक-समाज के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं है और यह विरोधाभास निभ भी नहीं सकता। प्रारम्भ से ही उनमें शोषितों के प्रति मानवीय संवेदना दृष्टिगोचर होती है। शोषक-समुदाय के कुकर्मों से उन्हें घणा थी; उन्होंने लिखा—

"निन्दा, क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण हैं, लेकिन मानव जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकाल लीजिए तो संसार नरक हो जाएगा :...पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी। जीवन में जब घृणा का इतना महत्त्व है, तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। मानव-हृदय आदि से ही 'सु' और 'कु' का गस्थल है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो 'सु' या 'सुन्दर' है, और इसलिए कल्याणकर है, उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो, और 'कु' या असुन्दर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। 'कु' और 'सु' का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है।"[२]

लेकिन वे भावनाओं के प्रति ही घृणा का उद्रेक करते हैं व्यक्तियों के प्रति नहीं—

"इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया।

हरेक टकापंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाए वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम-धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं जैसे आलोचक महो " के।"[३]

---

१. मंगलसूत्र पृ० ५८

२. 'हंस' दिसम्बर १९३३

३. 'हंस' दिसंबर १९३३ ('जीवन में घृणा का स्थान')

घृणा के सम्बन्ध में भी उनके विचार न शतप्रतिशत गांधीवादी हैं और न साम्यवादी। प्रेमचन्द पाखंडियों, धूर्तों, अन्यायियों का पर्दाफाश अवश्य करते हैं, पर उनके विरुद्ध घृणा उत्पन्न नहीं करते। साम्यवादी अन्यायी के प्रति भी घृणा करने की बात कहते हैं। प्रेमचन्द भावनाओं और व्यक्ति में भेद करते हैं। डा० रामविलास शर्मा 'प्रेमचन्द और उनका युग' नामक पुस्तक में लिखते हैं, "प्रेमचन्द का मानववाद मनुष्य की तरफदारी करनेवाला मानववाद है। वह अमानुषीय भावनाओं को देखकर चुप नहीं रहता। प्रेमचन्द खुल्लमखुल्ला अपना उद्देश्य घोषित करते हैं कि ऐसी भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलायी जाय, वह थोड़ी है। वह सोद्देश्य साहित्य के समर्थक हैं। "कला कला के लिए' या निरुद्देश्य साहित्य से उन्हें बैर है। वह भावनाओं और व्यक्ति में भेद करते हैं लेकिन स्वयं उनके उपन्यास अन्याय ही नहीं अन्यायी के प्रति भी घृणा करना सिखाते हैं। ज्ञानशंकर के चरित्र से कौन-सा पाठक क्रोध से विचलित नहीं हो उठता? ज्ञानशंकर को अलग रखकर उसका क्रोध कब सूक्ष्म भावनाओं पर केन्द्रित होता है? विचार क्षेत्र में प्रेमचन्द अन्याय और अन्यायी में भेद करते हैं, इस तरह का भेद अस्वाभाविक है और साधारण प्रकृति के विरुद्ध है। असल में अपने उपन्यासों में वह अन्यायी और अत्याचारी से घृणा करना सिखाते हैं, जो उचित ही है।"[1]

उपर्युक्त तथ्य आंशिक सत्य ही हो सकता है। यह अवश्य है कि व्यक्ति को अलग रखकर सूक्ष्म भावनाओं पर पाठक का क्रोध केन्द्रित नहीं हो सकता, लेकिन यह तभी तक होता है जब तक वह व्यक्ति घृणित कर्म करता है। बाद में घृणा का भाव उस सूरत में कर्म तक ही सीमित रह जाता है जब कि लेखक उस व्यक्ति में साधु-प्रवृत्तियों का संचार कर देता है। ज्ञानशंकर के मामले में भी यही बात दिखाई देती है। ज्ञानशंकर में जब साधुता जागती है तब वह अपने पूर्वकृत नीच कर्मों के कारण स्वयं से घृणा करने लगता है और आत्मग्लानि से भर-कर आत्महत्या कर लेता है। प्रेमचन्द ज्ञानशंकर के हृदय में प्रायश्चित्त के भावों का समावेश कर देते हैं। यदि व्यक्ति के प्रति ही घृणा का प्रचार करना प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा होता तो ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

जीवन के अन्तिम दिनों में वे साम्यवाद के प्रति आकर्षित हुए थे। इस आकर्षण का सूत्र क्या है? २७ फरवरी १९३३ के 'जागरण' की सम्पादकीय टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं—

"संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है,

---

१. प्रेमचंद और उनका युग पृ० १५१

जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता।"

यहाँ प्रेमचन्द का क्रान्तिकारी रूप साम्यवाद के निकट है। साम्यवाद उनके समय में रूस में साकार हो उठा था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि साम्यवाद के सिद्धान्त कोई मानववाद के विरोधी नहीं हैं। प्रेमचन्द का मानववादी-मन यदि साम्यवाद की आदर्श समाज-व्यवस्था की ओर आकर्षित हुआ तो वह एक स्वाभाविक विकास है। जिस तरह प्रारम्भ में प्रेमचन्द गांधीवाद की ओर आकर्षित हुए थे कुछ उसी प्रकार का यह भी आकर्षण था। गांधीवाद में अव्यावहारिकता देखकर प्रेमचन्द साम्यवादी यथार्थता की ओर मुड़े थे। यदि साम्यवादी व्यवस्था या सिद्धान्तों में उनके मन की भावनाओं के प्रतिकूल कोई बात उन्हें दिखाई देती तो वे उसकी आलोचना अवश्य करते और बहुत सम्भव है उनका मानवतावाद आगे चलकर एक नई विचारधारा को जन्म देता। लेकिन प्रेमचन्द इस मोड़ के अवसर पर ही हमसे बिदा हो गए। इस अवधि में व्यक्त उनके विचारों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि वे भारतीय आदर्शों और अपने मौलिक जीवन-दर्शन से ही प्रभावित होकर साम्यवाद का समर्थन करते हैं। साम्यवाद का अर्थ उनके लिये क्या था? साम्यवाद का विरोधी कौन हो सकता है? प्रेमचन्द लिखते हैं—

"साम्यवाद का विरोध वही तो करता है जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर ही समझता है, जो अपने में कोई सुर्खाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगा?"[1]

'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख में जो कि सितम्बर १९३६ में लिखा गया था प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर वर्तमान समाज की स्थिति का यथार्थ चित्र खींचा है तथा सोवियत रूस की समाज-व्यवस्था की प्रशंसा की है वहाँ दूसरी ओर जागीरदारी-सभ्यता की अच्छाइयों का उल्लेख भी किया है तथा इस बात पर खेद प्रकट किया है कि दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य एकदम ममता-शून्य जड़-यंत्र बनकर रह गया है। प्रेमचन्द मानव को उसके मौलिक रूप में देखना चाहते हैं। उसमें जो विकृति आगई है उसका मूल कारण धन-लिप्सा अथवा धनसंग्रह है जिसे महाजनी-सभ्यता ने बढ़ाया है। अतः वे इस महाजनी-सभ्यता

---

१. 'जागरण' २८ जनवरी, १९३४ (सम्पादकीय "हवा का रुख")

को मिटा देना चाहते हैं। सोवियत रूस ने महाजनवाद को समाप्त किया, अत: उस सभ्यता में उन्हें मानव-कल्याण के दर्शन हुए।

वर्तमान समाज-व्यवस्था की यथार्थ स्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख में लिखते हैं—

"मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने-खपनेवालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिये पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से बिदा हो जाए।"[1]

"कर्मभूमि" में भी एक स्थानपर प्रेमचन्द इस ओर लक्ष्य कर गये हैं। अमरकांत कहता है—

"एक आदमी दस रुपये में गुजर करता है, दूसरे को दस-हजार क्यों चाहिए? यह धाँधली उसी वक्त तक चलेगी जब तक जनता की आँखें बन्द हैं। क्षमा कीजिएगा, एक आदमी पंखे की हवा खाए और खसखाने में बैठे, और दूसरा आदमी दोपहर की धूप में तपे, यह न न्याय है, न धर्म, यह धाँधली है।"[2]

'मंगल सूत्र' में साधु कुमार कहता है—

"इतने गरीबों में धनी होना मुझे तो स्वार्थान्धता सी लगती है। मुझे तो इस दशा में भी अपने ऊपर लज्जा आती है, जब देखता हूँ कि मेरे ही जैसे लोग ठोकरें खा रहे हैं। हम तो दोनों वक्त चुपड़ी हुई रोटियाँ और दूध और सेव-सन्तरे उड़ाते हैं। मगर सौ में निन्यानबे आदमी तो ऐसे भी हैं जिन्हें इन पदार्थों के दर्शन भी नहीं होते। आखिर हममें क्या सुर्खाव के पर लग गए हैं?"[3]

और आगे चलकर 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख में वे रूसी-संस्कृति और समाज-व्यवस्था का स्वागत करते हैं—

"परन्तु अब एक नई सभ्यता का सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है,

---

१. 'हंस' सितंबर १९३६
२. कर्मभूमि पृ० १२९
३. मंगल-सूत्र „ २३

यह पतिततम प्राणी है, उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं।"[१]

इतना ही नहीं, सोवियत के विरुद्ध झूठा प्रचार करनेवाले महाजनों और साम्राज्यवादियों की भी खबर लेना वे नहीं भूले हैं—

"महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य, आजादी, यह इन सबकी घातक, गला घोंट देनेवाली बताई जा रही है। उस पर नए-नए लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हरकतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही हैं, कुत्सित से कुत्सित रूप मे चित्रित की जा रही हैं। उन सभी साधनों से जो पैसेवालों के लिये सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है। पर सचाई है, जो उस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।"[२]

आगे चलकर विस्तार से लिखते हुए प्रेमचन्द सोवियत साम्यवादी समाज-व्यवस्था की वास्तविकता बड़े निर्भीक ढंग से उपस्थित करते हैं—

"निःसन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिये साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिये युद्ध करा दे, गोला बारूद और युद्ध सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराए। अगर इसकी स्वाधीनता ही स्वाधीनता है तो निस्सन्देह नई सभ्यता में स्वाधीनता नहीं, पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जन-साधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ-सुथरे गाँव, मनोरंजन की और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्यःसुलभ न्याय की प्राप्ति हो तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आजादी है वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहानेवाली जायत को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दंभमय उपदेशों और अन्धविश्वासजनित रूढ़ियों का अनुसरण है तो निस्सन्देह वहाँ इस स्वतंत्रता का अभाव है, पर धर्मस्वातंत्र्य का अर्थ यदि लोकसेवा, सहिष्णुता, समाज के लिये व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है तो इस सभ्यता

---

१. 'हंस' सितम्बर, १९३६

२. 'हंस' सितम्बर, १९३६

में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते ।

यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है । वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता, बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है ।...

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाए और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फायदा उठाए या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-रकमें उड़ाए और मूँछों पर ताव देता फिरे ।"[१]

प्रेमचन्द जानते थे कि कुछ लोग इस नई सभ्यता का इस आधार पर विरोध करेंगे कि वह विदेशी है, भारत की मिट्टी के अनुकूल नहीं । इस कुतर्क का उत्तर वे अपने इसी लेख में दे गये हैं—

"यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है, यह तर्क नितान्त असंगत है । ईसाई मजहब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई । बौद्धधर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरु-दक्षिणा दी । मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है । छोटी-छोटी बातों में अन्तर हो सकता है, पर मूल स्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति में कोई भेद नहीं । जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याण-कारी है वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी । हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे । उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे । पर जो सत्य है, एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी ।"[२]

"मंगलसूत्र" में पं० देवकुमार के मुख से प्रेमचन्द कहलाते हैं—

"नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा । दरिद्रों के बीच में उनसे लड़ने के लिये हथियार बाँधना पड़ेगा ।"[३]

यहाँ ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द अहिंसा-पथ से हट गए हैं । हिन्दी के कई आलोचकों ने इस आशय के विचार व्यक्त किए हैं । यहाँ "हथियार बाँधने" से अभिप्राय हिंसा से नहीं है, वरन् संघर्ष से है । अन्याय को चुपचाप सहन न करने से है ।

---

१. 'हंस' सितंबर, १९३६

२. 'हंस' सितम्बर, १९३६

३. मगल-सूत्र—पृ० ६०

इस प्रकार प्रेमचन्द के विचारों में आगे चलकर पर्याप्त विकास हुआ। प्रारम्भ का सुधारवादी दृष्टिकोण क्रान्तिकारी विचारों के सामने न टिक सका। यह वैचारिक परिवर्तन उनके मानवतावाद के विकास के प्रति उत्तरदायी है।

भारतीय स्वाधीनता की समस्या

प्रेमचन्द भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के निर्भीक व अविचल योद्धा थे। विदेशी सत्ता के साम्राज्यवादी चक्र में दबा-पिसा भारत उनकी रचनाओं में बड़े ही मार्मिक ढंग से परिलक्षित हुआ है। प्रेमचन्द भारतीय राजनीतिक जागरण के एक स्तम्भ हैं। देश में स्वाधीनता के विचारों का प्रचार उन्होंने साहित्य के माध्यम से उतने ही जोरों से किया जितना कि सक्रिय राजनीति में सत्य व अहिंसा के द्वारा गांधी जी ने। साहित्य का जनता के संस्कारी मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उसमें कला अन्तर्निहित रहती है। प्रेमचन्द इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे। पराधीनता की शृंखलाएँ तोड़ने के लिये भारतीयों में नवीन चेतना, साहस और शक्ति का संचार प्रेमचन्द ने साहित्य के द्वारा किया। उन्होंने सोये भारत को झकझोरकर जगाया ही नहीं, उसे उसकी दयनीय दशा से ही परिचित नहीं कराया, वरन् उसे क्रान्ति के लिये—स्वाधीनता के हेतु संगठित अभियान के लिये तैयार भी किया। उनके साहित्य में भारत की आत्मा बोलती है।

प्रेमचन्द के समय भारत की राजनीतिक अवस्था बड़ी अनिश्चित थी। राष्ट्रीय महासभा (इन्डियन नेशनल कांग्रेस) के नेतृत्व में स्वाधीनता-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, यद्यपि कुछ असफलताएँ उसके इतिहास में विद्यमान हैं। पर, इन असफलताओं से स्वाधीनता की आग दबी नहीं, प्रत्युत और व्यापक व तीव्र ही होती गई। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों जनता के वे जुलूस देखे थे जो स्वाधीनता की मशाल लिए सड़कों-सड़कों तथा गलियों-गलियों निकलते थे। इसके साथ ही-साथ प्रेमचन्द ने अपनी आँखों अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचार, अन्याय व दमन के भी दृश्य देखे। लेखक होने के नाते प्रेमचन्द स्वाधीनता-आन्दोलन से तटस्थ नहीं रह सकते थे। सन् १९२० के जमाने में जब कि देशव्यापी असहयोग चल रहा था, प्रेमचन्द ने उससे प्रभावित होकर सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था और 'कलम के मजदूर' बनकर स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़े थे। आगे चलकर वे बराबर कांग्रेस की बैठकों में भाग लेते रहे। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने जैसा लिखा है—

"कांग्रेस की मीटिंग रोजाना चल रही थी, उसमें भी वे शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते।"[१]

प्रेमचन्द के साहित्य का तत्कालीन राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवरानी-प्रेमचन्द का अधोलिखित वार्तालाप प्रेमचन्द के साहित्य और राजनीति सम्बन्धी विचारों को प्रकट करता है—

"प्रेमचन्द—जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सब के सब ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे।"

शिवरानी—तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?

प्रेमचन्द—और क्या। ये चीजें माला जैसी ही हैं, जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलनेवाली चीजें हैं।"[२]

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अंग्रेजी-साम्राज्यवाद की व्यापारिक नीति, भारतीय शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी-शिक्षा के प्रति लगाव, भारतीय ईसाइयों में अंग्रेजों की नकल की प्रवृत्ति, ब्रिटिश नौकरशाही का आतंकपूर्ण शासन तथा उसके साम्राज्यवादी स्वार्थ, अन्याय आदि पर जगह-जगह लिखा है। वे पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे। "डोमिनियन स्टेटस्" में उनको तनिक भी विश्वास न था। 'हंस' की पहली सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने "डोमिनियन स्टेटस्" का कड़ा विरोध किया है—

"इंगलैण्ड का डोमिनियन स्टेटस् के नाम से न घबड़ाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज़ की उलझन है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो हैं नहीं कि इंगलैण्ड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यह होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष में हैं। इसका कुछ और आशय है। डोमीनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे-महाराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नज़र आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत कुछ दबकर रहना पड़ेगा ? स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी। क्या वे लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी-शासन से ही हो सकती है ? स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमीनियन का अर्थ उनके लिये

---

१. प्रेमचद—घर में पृ० ८४

२.. प्रेमचंद—घर में ,, ९४-९५

यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ, दो-चार बड़े-बड़े पद उन्हें और मिल जावेंगे। उनका डोमीनियन स्टेट्स इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह गरीबों को चूसते चले जायेंगे। स्वराज्य गरीबों की आवाज़ है, डोमीनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होनेवालों की।"[१]

वे पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती तो थे ही, पर उनकी स्वतंत्रता का दृष्टिकोण नितान्त जनवादी था। "कर्मभूमि" में डा० शान्तिकुमार के मुख से भी उन्होंने जनता की सरकार तथा क्रान्ति का समर्थन किया है—

"जब तक रिआया के हाथ में अख्तियार न होगा, अफसरों का यही हाल रहेगा...गरीबों की लाश पर सबके सब गिद्धों की तरह जमा होकर उनकी रोटियाँ नोच रहे हैं...इस हाहाकार को बुझाने के लिए दो चार घड़े पानी डालने से तो आग और भी बढ़ेगी। इन्कलाब की जरूरत है, पूरे इन्कलाब की।"[२]

वे वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें अमीर-गरीब का भेद न हो—

"गवर्नमेण्ट तो कोई जरूरी चीज नहीं। पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेण्ट है; गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेण्ट का खात्मा हो जाता है।'[३]

सर्वहारा-वर्ग के प्रति उन्हें स्वाभाविक सहानुभूति थी। वे उसे धनिक वर्ग के सामने अपमानित होते देखना पसन्द नहीं करते थे। वे ऐसी आजादी के समर्थक न थे जो मानवीय अधिकारों को दबाकर रखे। जागती हुई जनता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"उसे अपने स्वत्व का ज्ञान हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि उन्हें भी आराम से रहने का इतना ही अधिकार है, जितना धनियों को।"[४]

मार्क्सवादी समीक्षक श्रीयुत अमृतराय के शब्दों में यह कहा जा सकता है—

"प्रेमचन्द की देशभक्ति कोई शून्य, हवाई देशभक्ति नहीं, सच्ची जनवादी देशभक्ति है और उन्होंने जो कुछ लिखा है देश में जनता का शासन, जनवाद कायम करने के लिये लिखा है।"[५]

प्रेमचन्द के विचारों में परिवर्तन होते गए हैं। 'प्रेमा' से 'मंगलसूत्र' तक उन्होंने एक बहुत बड़ी वैचारिक यात्रा पूर्ण की है। प्रारम्भ में वे सुधारवादी तथा नरम दक्षिणमार्गी हैं, पर, बाद में बड़े उग्र क्रान्तिकारी तथा वाममार्गी।

---

१. 'हंस' मार्च १९३०

२. कर्मभूमि—पृ० २३२

३. कर्मभूमि—,, २३४

४. कर्मभूमि—,, २६६

५, शान्ति के योद्धा 'प्रेमचन्द'—पृष्ठ ६

यह परिवर्तन उनके अनुभव पर आश्रित है। उन्होंने दिन-दिन बढ़ते शोषण और अत्याचार को देखकर अपनी राय स्थापित की।

प्रारम्भ में उन पर गांधीवादी-दर्शन का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव था। प्रायः महान् साहित्यकारों में यह बात देखी गई है कि वे अपने युग के राजनीतिक नेताओं से विचारों में आगे होते हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गांधी जी के आविर्भाव के पूर्व स्वदेशी और भारतीय-संस्कृति के प्रति देश का ध्यान आकर्षित किया था, उसी प्रकार प्रेमचन्द भी गांधी जी के विचारों से आगे निकल जाया करते थे। 'प्रेमाश्रम' के रचनाकाल से यह बात स्पष्ट होती है। मजदूर और काश्तकारों के सम्बन्धों पर लिखा 'प्रेमाश्रम' गांधी जी के आन्दोलन का मानो पूर्वाभास है। प्रेमचन्द-शिवरानी संवाद से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है—

"शिवरानी—तो आप भी क्या महात्मा गांधी के तरफदार हो गए?"

प्रेमचन्द—अरे, तरफदार होने को तुम कहती हो, मैं उनका चेला हो गया। चेला तो उसी समय हुआ, जब वह गोरखपुर में आये थे।

शिवरानी—चेले तब हुए थे, दर्शन अब कर पाये।

प्रेमचन्द—चेला होने के मानी, किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों का अपनाना है।

शिवरानी—तो आपने अपना लिये?

प्रेमचन्द—मैंने अपना लिये। अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने 'प्रेमाश्रम' लिखा है। सन् २२ में छपा है।

शिवरानी—वह तो पहले से ही लिखा जा रहा था?

प्रेमचन्द—इसके मानी यह है कि मैं महात्मा गांधी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

शिवरानी—तो इसमें महात्मा गांधी की कौन खास बात हुई?

प्रेमचन्द—बात यह हुई कि जो बात वह करना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ। इसके मानी यह हैं कि मैं उनका बना बनाया कुदरती चेला हूँ।

शिवरानी—यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है।

प्रेमचन्द—दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका उद्देश्य भी यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिये आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख कर के उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।"[१]

---

१. प्रेमचंद—घरमें—पृष्ठ १२८-१२६

प्रेमचन्द के भाषा-सम्बन्धी विचारों को आगे चलकर गांधी जी ने भी अपनाया। इस प्रकार अनेक बातों में वे गांधी जी के पूर्व ही कदम उठा चुके थे। गांधी जी के सिद्धान्तों का प्रभाव उन पर पड़ा है, अतः उनका प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में मिलता है। 'रंगभूमि' में जाहिर अली के शब्द विपक्षी के सम्बन्ध में गांधी-वादी-दर्शन के प्रतीक हैं—

"जिन्होंने मुझ पर जुलुम किया है, उनके दिल में दया-धरम जागे, बस मैं आप लोगों से और कुछ नहीं चाहता।"[1]

इसी उपन्यास में वे कहते हैं—

"रोग का अन्त करने के लिये रोगी का अन्त कर देना न बुद्धिसंगत है, न न्यायसंगत। आग, आग से शान्त नहीं होती, पानी से शान्त होती है।"[2]

उन्होंने शान्त उपायों का सदैव समर्थन किया है। सोफी विनयकुमार से कहती है—

"तुम अपने आदर्श से उसी समय पतित हुए, जब तुमने उस विद्रोह को शान्त करने के लिये शान्त उपायों की अपेक्षा क्रूरता और दमन से काम लेना उपयुक्त समझा। शैतान ने पहली बार तुम पर वार किया, और तुम फिर न सँभले, गिरते ही चले गये।"[3]

पर, आगे चलकर सुधारवादी दृष्टिकोण पर से उनका विश्वास हिल गया था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे बड़े उग्र हो उठे थे। उनके उपन्यासों में भारतीय स्वाधीनता की गूँज सर्वप्रथम 'सेवासदन' में सुनाई देती है जहाँ कि उन्होंने एक भविष्य-दृष्टा की तरह यूरोप के व्यापारिक साम्राज्यवाद के प्रति लिखा है—

"शिल्प और कला-कौशल का यह महल उसी समय तक है जब तक संसार में निर्बल असमर्थ जातियाँ वर्तमान हैं। उनके गले सस्ता माल मढ़कर यूरोपवाले चैन करते हैं। पर ज्यों ही वे जातियाँ चौंकेंगी, यूरोप की प्रभुता नष्ट हो जावेगी।"[4]

उन्होंने भारतीय युवकों को पाश्चात्य-संस्कृति तथा विदेशी-भाषा के पीछे मतवाले होने से रोका व सचेत किया। देश में जब स्वाभिमान तथा निजकी संस्कृति के प्रति उपेक्षा-भाव बढ़ते जाते हैं तब वह देश तथा जाति मृतवत् हो जाती है। भारतीय युवकों के द्वारा भारतीय-संस्कृति की उपेक्षा ही नहीं हुई, वरन् एक समय था जब कि पाश्चात्य सभ्यता के ये भक्त-युवक उसका उपहास करते थे। अपनी भाषा में बोलना उनके लिये अपने को अशिक्षित तथा असभ्य बताना

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ ३१९
२. रंगभूमि—पृष्ठ २८१
३. वही (भाग २) पृष्ठ ८४
४. सेवासदन—पृष्ठ १५५

था। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जाति में पाये जानेवाले आत्महीनता के भावों को व्यक्त किया है, क्योंकि उनके उपन्यास केवल हमारा मनोरंजन ही नहीं करते, प्रत्युत वे समस्याओं को भी सम्मुख रखते हैं, उन समस्याओं के कारणों पर प्रकाश डालते हैं तथा उनके हल का उपाय भी सुझाते हैं। इन समस्याओं में भारतीय स्वाधीनता की समस्या भी एक है। अंग्रेजी-भाषा के 'गुलामों' को प्रेमचन्द 'सेवासदन' के एक समाज-सुधारक पात्र बिट्ठलदास के द्वारा जाग्रत करना चाहते हैं—

"आपकी अंग्रेजी-शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण-दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिये नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिये करते हैं कि ब्लावेदस्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है।...यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गयी ुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।"[१]

'सेवासदन' में आगे चलकर प्रेमचन्द सदन के मुख से अंग्रेजी पढ़े-लिखे स्वार्थान्धों को खरे शब्दों में ललकारते हैं—

"यह सबके सब स्वार्थसेवी हैं, इन्होंने केवल दीनों का गला दबाने के लिये, केवल अपना पेट पालने के लिये अंग्रेजी पढ़ी है, यह सबके सब फैशन के गुलाम हैं, जिनकी शिक्षा ने उन्हें अंग्रेजों का मुँह चिढ़ाना सीखा दिया है, जिनमें दया नहीं, धर्म नहीं, निज भाषा से प्रेम नहीं, चरित्र नहीं, आत्मबल नहीं, वे भी कुछ आदमी हैं?"[२]

यह देश की पतित तथा पराजित दशा का कितना मार्मिक तथा उत्तेजक वर्णन है। भाषा की पराधीनता देश की स्वाधीनता में बाधक होती है। अंग्रेजी राजनीतिज्ञों तथा शिक्षा-विशारदों ने यह बात खूब सोच-समझकर भारत की राजभाषा अंग्रेजी बनायी थी, पर मेकाले का स्वप्न उस देश में कहाँ साकार हो सकता था जहाँ प्रेमचन्द व गांधी जैसे स्वाधीनता के अटल व निर्भीक प्रहरी थे। शिक्षितवर्ग को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सचेत किया—

"शिक्षित-वर्ग जब तक शासकों का आश्रित रहेगा, हम अपने लक्ष के जौ भर भी निकट न पहुँच सकेंगे।"[३] कुछ लोग अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी राज्य की

१. सेवासदन—पृष्ठ २४४-२४५
२. वही—पृष्ठ २८३
३. रंगभूमि (भाग १)—पृष्ठ ३६०

प्रशंसा करते देखे जाते हैं। किसी जाति के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न करना कोई मानवतावादी लेखक पसन्द नहीं करेगा, पर एक ऐसे दल के विरुद्ध जो विजित देश में लूट और अराजकता का भय फैलाता है, उसके नग्न स्वरूप को नहीं छिपाया जा सकता। ब्रिटेन से भारत आनेवाले अनेक गोरों की ऐसी कथाएँ हैं जो भारत को 'सोने की चिड़िया' समझकर महज़ ऐयाशी के लिये ही आते थे। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द लाला समरकान्त को सोना बेचती हुई मेमों के बारे में लिखते हैं—

"यह गोरे उस श्रेणी के थे, जो अपनी आत्मा को शराब और जुए के हाथों बेच देते हैं, बेटिकट फर्स्ट-क्लास में सफर करते हैं, होटलवालों को धोखा देकर उड़ जाते हैं और जब कुछ बस नहीं चलता, तो बिगड़े हुए शरीफ बनकर भीख माँगते हैं।"[१]

'रंगभूमि' में मिसेज़ सेवक और कुँवर साहब के वार्तालाप से प्रेमचन्द अंग्रेजी-राज्य की नियामतों की निस्सारता पर बड़े तार्किक ढंग से लिखते हैं—

"कुँ—जिस राष्ट्र ने एक बार अपनी स्वाधीनता खो दी, वह फिर उस पद को नहीं पा सकता। दासता ही उसकी तकदीर हो जाती है। मैं अंग्रेजों की तरफ से निराश हो गया हूँ...

मि० से०—(रुखाई से) तो क्या आप यह नहीं मानते कि अंग्रेजों ने भारत के लिये जो कुछ किया है, वह शायद ही किसी जाति ने किसी जाति या देश के साथ किया हो?

कुँ०—नहीं, मैं यह नहीं मानता।

मि० से०—(आश्चर्य से) शिक्षा का इतना प्रचार और भी किसी काल में हुआ था?

कुँ०—मैं इसे शिक्षा ही नहीं कहता जो मनुष्य को स्वार्थ का पुतला बना दे।

मि० से०—रेल, तार, जहाज, डाक ये सब विभूतियाँ अंग्रेजों के ही साथ आयीं।

कुँ०—अंग्रेजों के बगैर भी आ सकती थीं और अगर आयी भी हैं, तो अधिकतर अंग्रेजों ही के लिये।

मि० से०—ऐसा न्याय-विधान पहले कभी न था?

कुँ०—ठीक है, ऐसा न्याय-विधान कहाँ था, जो अन्याय को न्याय और असत्य को सत्य सिद्ध कर दे। यह न्याय नहीं, न्याय का गोरखधंधा है।"[२]

---

१. 'कर्मभूमि' पृष्ठ ५६

२. रंगभूमि (भाग १)—पृष्ठ २६६

अंग्रेजी-राज्य में भारतीय जेलखानों की दशा तथा कैदियों के जीवन पर 'कायाकल्प' में विस्तार से लिखा गया है। जिस राज्य में राजनैतिक कैदियों को ऐसे स्थानों पर रखा जाता हो तो उसे क्या सभ्य कहा जा सकेगा?—

"उन्हें ईश्वर के दिये हुए वायु और प्रकाश के मुश्किल से दर्शन होते थे। मनुष्य के रचे हुए संसार में मनुष्यत्व की कितनी हत्या हो सकती है, इसका उज्ज्वल प्रमाण सामने था। भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते। वस्त्र ऐसे, जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता, और परिश्रम इतना करना पड़ता था जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कंटक साधन। दो रुपये रोज का काम लेकर, दो आने का खाना खिलाना, ऐसा अन्याय है, जिसकी कहीं नजीर नहीं मिल सकती। आदि से अन्त तक सारा व्यापार घृणित, जघन्य, पैशाचिक और निन्दनीय है। अनीति की भी अक्ल यहाँ दंग है, दुष्टता भी यहाँ दाँतों तले उँगली दबाती है।"[१]

भारत में अंग्रेज़ी-राज्य की नींव आतंक की शिला पर डाली गई। शासन और शासकीय अधिकारियों का प्रथम और अंतिम उद्देश्य देश में आतंक का साया डालकर शोषण करना रहा। प्रबल आतंक के कारण जनता को नाना अन्यायों तथा विपत्तियों का सामना करना पड़ा। प्रेमचन्द ने इस आतंकवाद के विरुद्ध लेखनी चलाई, क्योंकि जब तक जनता के हृदय से भय दूर नहीं होता, वह दब्बू बनकर अन्याय को सहन करती जायगी। स्वाधीनता-प्राप्ति का प्रथम आवश्यक चरण हृदयों से अंग्रेजी शासन के भय को जड़ से मिटाना था। 'कर्मभूमि' में मुन्नी के गोरों द्वारा सतीत्व हरण की घटना पर सलीम सोचता है—

"इन टके के सैनिकों की इतनी हिम्मत क्यों हुई? यह गोरे सिपाही इंगलैंड की निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं। इनका इतना साहस कैसे हुआ? इसलिये कि भारत पराधीन है। यह लोग जानते हैं कि, यहाँ के लोगों पर उनका आतंक छाया हुआ है। वह जो अनर्थ चाहें, करें, कोई चूँ नहीं कर सकता। यह आतंक दूर करना होगा। इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।"[२]

'रंगभूमि' में मि० क्लार्क आतंक की स्थापना के लिये सब कुछ करने को तैयार है। साम्राज्यवादी भावनाओं से मनुष्य का कितना पतन हो सकता है उसका उदाहरण क्लार्क के अधोलिखित शब्दों से मिलता है जहाँ न्याय जैसी कोई चीज़ नहीं होती—

---

१. 'कायाकल्प' पृष्ठ १८४

२. कर्मभूमि—पृ० १८४

"हमारा साम्राज्य तभी तब अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे।...अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, तो व्यक्तिगत भावों और विचारों का यहाँ कोई अस्तित्व नहीं। साम्राज्य के लिये हम बड़े से बड़े नुकसान को उठा सकते हैं, बड़ी से बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेशमात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं, उसका नाश कर देना चाहते हैं, उसके साथ किसी भाँति की रियायत, सहानुभूति, यहाँ तक कि न्याय का व्यवहार भी नहीं कर सकते।"[१]

अपने स्वार्थ के लिये अंग्रेजों ने सब कुछ किया। 'कायाकल्प' में गुरुसेवक मनोरमा से कहता है—

"इनमें उदारता और सज्जनता नाम को भी नहीं होती, बस, अपने मतलब के यार हैं ये। इनका धर्म, इनकी राजनीति, इनका न्याय, इनकी सभ्यता केवल एक शब्द में आ जाती है, और वह शब्द है—"स्वार्थ"।"[२]

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इरादों को बड़े स्पष्ट और बेलाग ढंग से क्लार्क के मुख से प्रेमचन्द कहलाते हैं। इंगलैण्ड में चाहे जिस पार्टी का शासन रहा हो, सभी का प्रयत्न भारत में अपना साम्राज्य-स्थापन और रक्षा ही रहा। सत्तारूढ़ पार्टी ने जब-जब अत्याचार किये तब-तब अन्य पार्टी ने मात्र दिखावे को उसका विरोध किया। इस प्रकार भारतीयों को भुलावा दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निर्लज्जता का तथा उसकी नीति का पर्दाफाश करने से प्रेमचन्द नहीं चूके हैं—

"अंग्रेज-जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।... आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं है।...अंग्रेज जाति कभी त्याग के लिये, उच्च सिद्धान्तों पर प्राण देने के लिये, प्रसिद्ध नहीं रही। सबके सब साम्राज्यवादी हैं। अन्तर केवल उस नीति में है, जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिये ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस, वास्तव में नीति कोई नहीं है, केवल उद्देश्य है, वह यह कि क्यों कर भारतवासियों पर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो।"[३]

---

१. रंगभूमि (भाग २) पृष्ठ २७
२. कायाकल्प—पृ० २१२-२१३
३. रंगभूमि (भाग २) पृ० १८६

"हमारा प्रथम और अन्तिम उद्देश्य शासन करना है।"[१]

मि० क्लार्क के उपर्युक्त शब्द अंग्रेजी राज्य के नग्न स्वरूप को सामने रखते हैं। प्रेमचन्द इस राज्य को मिटाना चाहते थे, क्योंकि उसका अस्तित्त्व अन्याय पर था। न्याय का उपहास करता हुआ प्रभुसेवक सूरदास से कहता है—

"सरकार यहाँ न्याय करने नहीं आयी है, भाई, राज्य करने आयी है। न्याय करने से उसे कुछ मिलता है? कोई समय वह था जब न्याय को राज्य की बुनियाद समझा जाता था। अब वह जमाना नहीं है। अब व्यापार का राज्य है और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसके लिये तारों का निशाना मारनेवाली तोपें हैं। तुम क्या कर सकते हो? दीवानी में मुकदमा दायर करोगे? वहाँ भी सरकार ही के नौकर-चाकर न्याय पद पर बैठे हुए हैं।"[२]

अन्यायी शासक दमन का सहारा लेता है। वह राष्ट्रीय भावनाओं, जन आन्दोलनों, राष्ट्रीय साहित्य आदि को कुचलने के षड़यंत्र रचता है। अंग्रेजी-शासन ने जितने दमन चक्र चलाये उनके उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलेंगे। प्रेमचंद भारतीय जनता को दमन का वीरता से सामना करने योग्य बनाते हैं। उनमें आत्म-सम्मान, साहस तथा देशप्रेम के भावों का प्रसार करते हैं। प्रभुसेवक के मुख से रक्तपात से डरनेवालों की कापुरुषता पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा है:—

"जब तक हम खून से डरते रहेंगे, हमारे स्वप्न भी हमारे पास आने से डरते रहेंगे। उनकी रक्षा तो खून ही से होगी। राजनीति का क्षेत्र समरक्षेत्र से कम भयावह नहीं है। उसमें उतरकर रक्तपात से डरना कापुरुषता है।!"[३]

इस प्रकार प्रेमचंद ने साहित्य के द्वारा देश और जाति में नयी चेतना उत्पन्न की, स्वाधीनता-संग्राम को वाणी दी और जनता के एक बहुत बड़े तथा महत्वपूर्ण भाग को स्वतन्त्रता के रहस्य से परिचित कराया। उनका साहित्य स्वतंत्रता का सजग प्रहरी है। भारत के स्वाभिमान व गौरव का धरोहर है। जिस देश ने प्रेमचंद जैसे लेखक उत्पन्न किए हैं वह कभी भी पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता। वह सदैव एक गत्यात्मक वातावरण में फलेगा-फूलेगा।

प्रेमचंद का साहित्य केवल भारत की स्वाधीनता का ही साहित्य नहीं है वरन् संसार की समस्त पीड़ित, दुखी, और शोषित जनता का साहित्य है। अन्य पराधीन या अर्द्ध पराधीन देश उनके साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि प्रेमचंद ने स्वातन्त्र्य-भावना को कभी भी और कहीं भी संकीर्ण रूप में नहीं देखा। जनवादी होने के कारण वे मानव मात्र के हैं और संत्रस्तमानवता को, निश्चय ही, उनके साहित्य से सदैव आत्मबल मिलेगा।

---

१. „ („ २) पृ० ३४२

२. रंगभूमि (भाग २) „ १५०—५१

३. „ („ १) „ ४२२

रियासतों और देशी नरेशों की समस्या

प्रेमचंद ने रियासतों और देशी नरेशों की तत्कालीन स्थिति और उसके भविष्य पर 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में विस्तार से उल्लेख किया है।

भारतीय रियासतें स्वतंत्रता-प्राप्ति में एक बड़ी रुकावट थीं। इन प्रदेशों की जनता की स्थिति ब्रिटिश-भारत से भी गई-गुज़री रही। राजाओं में नैतिक बल बिलकुल न था, वे ब्रिटिश-शासकों के संकेतों पर नाचने वाले मात्र कठपुतली थे। इन राजाओं-महाराजाओं ने ब्रिटिश-शासन की चाकरी करके साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत किया और सामंत-प्रथा को पुनर्जीवित किया। एक समय था जबकि राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। जनता उनका सम्मान करती थी, किन्तु 'राजावाद' में जो मूल दोष थे, वे अंत में सामने आए और राजसत्ता दूषित हो उठी। राजाओं के नैतिक आदर्श गिर गए, जनता के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा की भावना मिट गई। राजा-महाराजाओं और उनके दीवानों-सामंतों के अत्याचार और दमन के विरुद्ध जनता उठ खड़ी हुई। लेकिन इन रियासतों की जनता की मुक्ति का प्रश्न भारतीय-स्वाधीनता प्राप्ति का ही एक अंग था। जब तक भारत से ब्रिटिश-साम्राज्य का अंत नहीं होता, इन रियासतों में भी कोई सीमित क्रान्ति तो सफल ही हो सकती थी और न स्थायी ही। पर इन प्रदेशों की जनता में भी स्वाधीनता के भावों का प्रसार करना आवश्यक था। लेखकों का भी यह कर्त्तव्य था कि वह इन रियासतों के मनमानी शासन के विरुद्ध आवाज लगाएँ और उन प्रदेशों की जनता का साथ दें, उनके आन्दोलनों को बल पहुँचाएँ, तथा राजसत्ता की निरर्थकता प्रमाणित करें, जिससे एक स्वाधीन जनवादी भारत का निर्माण हो सके।

प्रेमचंद ने आजन्म साम्राज्यवाद और उसको बल पहुँचाने वाली शक्तियों से लोहा लिया। सामंती-तत्वों से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। व्यक्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न न करना एक अलग बात है और किसी प्रणाली से समझौता करना नितांत अलग। प्रेमचंद ने राजसत्ता की प्रणाली से कभी समझौता नहीं किया, 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' के पढ़ने पर राजसत्ता पर किसी की श्रद्धा नहीं जमेगी।

प्रेमचंद ने उस व्यवस्था के प्रति असंतोष व्यक्त किया है तथा उसमें पाये जाने वाले दोषों को बड़े ही यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है। यही नहीं उन्होंने राजा-महाराजाओं के चित्रण में भी किसी तरह का पक्षपात नहीं किया। उनकी दुर्बलताओं का इतना नग्न और व्यंग्यात्मक चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

राजसत्ता से सम्बन्धित एक घटना स्वयं प्रेमचंद के जीवन में भी आती है। शिवरानी देवी ने, 'प्रेमचंद घर में' में इसका उल्लेख किया है; जो इस प्रकार है—"सन् २४ का जमाना था। आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से, राजा साहब की चिट्ठी लेकर पाँच-छ: सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहब उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। राजा साहब ने ४००) प्रतिमास नगद, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयों को यह कहकर कि मैं बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी है, राजा साहब को एक खत लिखा, 'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा। एक साहित्य-सेवी, धनपत राय।'"[1]

प्रेमचंद जानते थे कि रियासतों का वातावरण कितना दूषित है; जहाँ जाकर भले लोग भी बिगड़ जाते हैं; क्योंकि मूलभूत दोष तो उस व्यवस्था का है; अतः उन्होंने न उस व्यवस्था को सुधारने का या आदर्श बनाने का प्रयत्न किया और न उससे समझौता करने का। यदि राजाओं के प्रति प्रेमचंद कटुता उत्पन्न न कर सके तो यह उनके मानवतावादी जीवन-दर्शन के कारण है। व्यक्तिविशेष के प्रति कटुता उत्पन्न न कर उन्होंने उस व्यवस्था के प्रति ही विरोध प्रकट किया है।

देशी-नरेशों और रियासतों पर प्रेमचंद के विचारों को जानने के लिए 'रंगभूमि' (१९२४) और 'कायाकल्प' (१९२८) में चित्रित रियासतों और देशी नरेशों के जीवन पर दृष्टि डालना आवश्यक है। 'रंगभूमि' में कुँअर भरतसिंह, रानी जाह्नवी और विनयसिंह बनारस से संबन्धित हैं, म्युनिसिपैलिटी के प्रधान, कुँवर भरतसिंह के दामाद महेन्द्र कुमार सिंह चतारी के राजा हैं, इंदु उनकी पत्नी हैं। बनारस के अतिरिक्त राजपूताने की रियासत उदयपुर-जसवतनगर का भी विस्तार से चित्रण किया गया है; यहाँ उदयपुर के महाराजा और दीवान सरदार

---

१. प्रेमचंद घर में—पृ० ९७

नीलकंठसिंह प्रमुख हैं । इन दोनों प्रदेशों का सम्बन्ध जिला हाकिम और जिलाधीश मिस्टर जोजफ विलियम क्लार्क से आता है । उपर्युक्त पात्र रियासतों और देशी-नरेशों की यथार्थ स्थिति का चित्र उपस्थित कर देते हैं । इसी प्रकार 'कायाकल्प' में जगदीशपुर की महारानी देवप्रिया और वहाँ के दीवान ठाकुर हरिसेवकसिंह, तथा रानी साहब के चचेरे देवर और नए राजा साहब ठाकुर विशालसिंह हैं जिनके वसुमति, रामप्रिया और रोहिणी नाम की तीन रानियाँ हैं और जो संतान-कामना के कारण पुत्रीवत् मनोरमा से चौथी शादी करते हैं । जिस प्रकार 'रंगभूमि' में अंग्रेज हुक्काम मिस्टर क्लार्क हैं उसी प्रकार कायाकल्प में जिले के मैजिस्ट्रेट मि० जिम और फौज के कप्तान मि० सिम हैं । रियासती वातावरण में भले आदमी भी किस प्रकार बिगड़ जाते हैं यह बताने के लिए 'रंगभूमि' में विनय और 'कायाकल्प' में चक्रधर की योजना हुई है ।

इन सब राजाओं के नैतिक बल का बड़ा ही यथार्थ और व्यंग्यात्मक चित्रण प्रेमचंद ने किया है । उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है । प्रेमचंद ने बताया है कि कायरता का दूसरा नाम 'राजा' है । राजा से अभिप्राय देशी-नरेशों से है जो भय के साक्षात अवतार बने हुए हैं ।

चतारी के राजा महेन्द्रकुमार सिंह अपनी पत्नी इंदु से जो अनेक पहलुओं पर वार्तालाप करते हैं वह उनके वास्तविक रूप को सामने ला देता है । सेवा-समितियों से सहानुभूति रखना भी उनके लिए आपत्तिजनक है । आत्म-स्वाधीनता जैसी कोई चीज उनमें नहीं पाई जाती । "तुम्हारी समझ में और मेरी समझ में बड़ा अन्तर है । यदि मैं बोर्ड का प्रधान न होता, यदि मैं शासन का एक अंग न होता, अगर मैं रियासत का स्वामी न होता, तो स्वच्छन्दता से प्रत्येक सार्वजनिक-कार्य में भाग लेता । वर्तमान स्थिति में मेरा किसी संस्था में भाग लेना इस बात का प्रमाण समझा जायगा कि राज्याधिकारियों को उससे सहानुभूति है । मैं यह भ्रान्ति नहीं फैलाना चाहता ।"[१]

समिति के सेवक गढ़वाल जाने के लिए स्टेशन पर एकत्र हो रहे थे । इंदु अपने पिता महेन्द्रकुमार सिंह की कायरता की पर्याप्त भर्त्सना करके विनय से मिलने और समिति के सेवकों को विदा देने स्टेशन जाती है । उसके जाने पर राजा साहब सोचने लगे, "इसको जरा भी चिन्ता नहीं कि हुक्काम के कानों तक यह बात पहुँचेगी, तो वह मुझे क्या कहेंगे । समाचार-पत्रों के सम्वाददाता यह वृत्तांत अवश्य ही लिखेंगे, और उपस्थित महिलाओं में चतारी की रानी का नाम मोटे अक्षरों में लिखा हुआ नजर आएगा ।"[२]

१. रंगभूमि (भाग १) पृ० २७२
२. रंगभूमि (भाग १) पृ० २७५

आगे जब उनका स्वाभिमान (?) जाग्रत होता है तो वे स्वयं स्टेशन पहुँचते हैं और इंदु से अपनी पूर्व दुर्बलता भी निःसंकोच स्वीकार करते हैं, "इंदु इतना अविश्वास-मत करो।........तुम्हारी यह बात मेरे मन में बैठ गई कि हुक्काम का विश्वास पात्र बने रहने के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान क्यों करते हो, नेकनाम रहना अच्छी बात है, किन्तु नेकनामी के लिए सच्ची बातों में दबना अपनी आत्मा की हत्या करना है।"[१] पर जब उनके स्टेशन जाने का समाचार दैनिक पत्र में आलोचनासहित प्रकाशित हुआ तब वह सारा स्वाभिमान छू-मंतर हो गया। कमिश्नर साहब की संदेहात्मक दृष्टि से वे विचलित हो उठे। सारी रात इसी चिंता में डूबे रहे और प्रातःकाल जब दो-चार मित्र उनसे मिलने आए तब उसी समाचार की चर्चा हो उठी। एक साहब बोले, "मैं कमिश्नर से मिलने गया था, तो वह इसी लेख को पढ़ रहा था, और रह-रहकर जमीन पर पैर पटकता था।"[२] इसी पर राजा महेन्द्रकुमार सिंह के होश और भी उड़ गए। वे सीधे घबराये हुए कमिश्नर के बँगले पर पहुँचे। वहाँ अरदली के कहने पर एक घंटे प्रतीक्षा करते रहे और ऐसा कह कर कि मिस्टर जान सेवक को पांडेपुर की जमीन दिलाने के लिए जनता का विश्वास-पात्र बनने का ढोंग रचा था; कमिश्नर को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। यही नहीं मि० सेवक तक से उन्हें डर है; क्योंकि मिस्टर सेवक और मि० क्लार्क के सम्बन्ध अच्छे हैं। इस कारण वे अनुचित ढंग से भी मि० सेवक की सहायता करने को उद्यत हैं। "तुम जानती हो, मि० सेवक की यहाँ के अधिकारियों से कितनी राह-रस्म है। मिस्टर क्लार्क तो उनके द्वार के दरबान बने हुए हैं। अगर मैं उनकी इतनी सेवा न कर सका, तो हुक्काम का विश्वास मुझ पर से उठ जायगा।"[३]

इस पर इंदुमती की टिप्पणी उनके सारे अधिकारों से खोखलेपन को उघारकर रख देती है, "मैं नहीं जानती थी कि प्रधान की दशा इतनी शोचनीय होती है।"[४] प्रेमचंद आगे चलकर प्रधान की यथार्थ स्थिति का चित्रण और विस्तार से करते हुए लिखते हैं, "प्रधान केवल राज्याधिकारियों के हाथ का खिलौना है। उनकी इच्छा से जो चाहे करे, उनकी इच्छा के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकता। वह संख्या बिंदु है, जिसका मूल्य केवल दूसरी संख्याओं के सहयोग पर निर्भर है।"[५] स्वयं महेन्द्रकुमार सिंह के मुख से राजवर्ग की कापुरुषता और विवशता का वर्णन करवाते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, "तुम्हें मालूम नहीं, इन अंग्रेज हुक्काम के कितने अधिकार

---

१. वही पृ० २८०
२. ,, ,, २८२
३. रंगभूमि (भाग १) ,, २८७
४. वही ,, २८७
५. ,, ,, २८८

होते हैं । यों चाहूँ तो इसे नौकर रख लूँ, मगर इसकी एक शिकायत में मेरी आबरू खाक में मिल जायगा । ऊपर वाले हाकिम इसके खिलाफ मेरी एक भी न सुनेंगे । रईसों को इतनी स्वतंत्रता भी नहीं, जो एक साधारण किसान को है । हम सब इनके हाथों के खिलौने हैं, जब चाहें, जमीन पर पटक कर चूर-चूर कर दें ।"[१] और इस दयनीय दीनता पर इंदु अपने मन में सोचती है, "बच्चे हौआ से भी इतना न डरते होंगे ।"[२] राजाओं की भयग्रस्त स्थिति पर इससे सुन्दर व्यंग्य और क्या हो सकता है ।

इसी प्रकार राजपूताने की रियासत उदयपुर-जसवंतनगर का भी वर्णन 'रंगभूमि' में मिलता है । रेजीडेंट का दबदबा कितना रहता है इस पर दीवान सरकार नीलकंठ सिंह विनय से कहते हैं, "रेजीडेंट साहब की इच्छा के विरुद्ध हम तिनका तक नहीं हिला सकते ।"[३] महाराजा अपने को ईश्वर का अवतार समझते हैं पर वास्तव में देखा जाय तो वे भय के अवतार हैं । विनय से हुआ उनका वार्तालाप उनकी कायरता और नैतिक पतन पर भली-भाँति प्रकाश डाल देता है । "शिव शिव ! बेटा, तुम राजनीति की चालें नहीं जानते । यहाँ एक कैदी भी छोड़ा गया, और रियासत पर वज्र गिरा । सरकार कहेगी, मेम को न जाने किस नियत से छिपाए हुए है, कदाचित् उस पर मोहित है, तभी तो पहले दंड का स्वांग भर कर विद्रोहियों को छोड़ देता है । शिव-शिव ! रियासत धूल में मिल जायगी, रसातल को चली जायगी । कोई न पूछेगा कि यह बात सच है या झूठ । कहीं इस पर विचार न होगा । हरि हरि ! हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई बीती है । उन्हें तो सफाई देने का अवसर दिया जाता है, न्यायालय में उन पर कोई धारा लगाई जाती है, और उसी धारा के अनुसार उन्हें दंड दिया जाता है । हमसे कौन सफाई लेता है, हमारे लिए कौन-सा न्यायालय है । हरि-हरि ! हमारे लिए न कोई कानून है, जो अपराध चाहा, लगा दिया । जो दंड चाहा, दे दिया । न कहीं अपील है, न फरियाद । राजे विषय-प्रेमी कहलाते हैं ही, उन पर यह दोषारोपण होते कितनी देर लगती है । कहा जायगा, तुमने क्लार्क की अति रूपवती मेम को अपने रनिवास में छिपा लिया, और झूठ-मूठ उड़ा दिया कि वह गुम हो गई । हरि-हरि ! शिव-शिव ! सुनता हूँ, बड़ी रूपवती स्त्री है, चाँद का टुकड़ा है, अप्सरा है । बेटा, इस अवस्था में यह कलंक न लगाओ । वृद्धावस्था भी हमें ऐसे कुत्सित दोषों से नहीं बचा सकती । मशहूर है, राजा लोग रसादि का सेवन करते हैं, इसीलिए जीवन पर्यन्त हृष्ट-पुष्ट रहते हैं । शिव-शिव ! यह राज्य नहीं है, अपने कर्मों

१. " पृ० २६४
२. " " २६४
३. " " २३१

का दंड है। नकटा जिये बुरे हवाल। शिव-शिव! जब कुछ नहीं हो सकता। सौ-पचास निर्दोष मनुष्यों का जेल में पड़ा रहना कोई असाधारण बात नहीं। वहाँ भी तो भोजन वस्त्र मिलता है ही।...

विनय को आज राजा से घृणा हो गई। सोचा, इतना नैतिक पतन, इतनी कायरता। यों राज्य करने से डूब मरना अच्छा है।"[१]

और उधर कुँअर भरतसिंह भी भयभीत होकर अपनी रियासत कोर्ट-आफ-वार्डस के सिपुर्द कर देते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद ने इन राजा-महाराजाओं के व्यक्तित्व को बड़े ही यथार्थ ढंग से चित्रित किया है, उस पर कोई आवरण नहीं डाला।

रियासत पर वास्तविक शासन पोलिटिकल एजेन्ट का रहता है; राजा उसी के संकेत पर नाचता है। उसको प्रसन्न करणे के लिये वह अपने व्यक्तित्व का सर्वनाश तो करता ही है प्रजा पर अत्याचार करने में भी नहीं चूकता। मि० क्लार्क पोलीटिकल एजेन्ट के पद का महत्व प्रतिपादित करते हुए सोफिया से कहते हैं, "हाँ, मैं एक रियासत का पोलीटिकल एजेन्ट बना दिया जाऊँगा। यह पद बड़े मजे का है। राजा तो केवल नाम के लिये होता है, सारा अख्तियार तो एजेन्ट ही के हाथों में रहता है।"[२] "उसका अधिकार सर्वत्र, यहाँ तक कि राजा के महल के अन्दर भी होता है।...वह राजा के खाने, सोने, आराम करने का समय तक नियत कर सकता है। राजा किससे मिले, किससे दूर रहे, किसका आदर करे, किसकी अवहेलना करे, ये सब बातें एजेन्ट के अधीन हैं। वह यहाँ तक निश्चय करता है कि राजा की मेज पर कौन-कौन से प्याले आएँगे, राजा के लिए कैसे और कितने कपड़ों की जरूरत है, यहाँ तक कि वह राजा के विवाह का भी निश्चय करता है। बस, यों समझो कि वह रियासत का खुदा होता है।"[३]

इंदु के दुर्व्यवहार पर सोफिया के मुख से प्रेमचंद कहलवाते हैं:—"इसे अपनी रियासत का घमंड है; मैं दिखा दूँगी कि वह सूर्य का स्वयं प्रकाश नहीं, चाँद की की पराधीन ज्योति है। इसे मालूम हो जायगा कि राजा और रईस, सब के सब शासनाधिकारियों के हाथ के खिलौने हैं।"[४] सूरदास पर अत्याचार किये जाने के निर्णय पर सोफिया मि० क्लार्क को इस बात का परिचय देती है कि राजा साहब इसका घोर विरोध करेंगे, इस पर मि० क्लार्क किस ढंग से उत्तर देते हैं, "थुह। उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है। वह जो कुछ करते हैं, हमारा रुख देख कर सकते हैं। इसी वजह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती। हाँ, उनमें यह विशेष गुण

१. रंगभूमि (भाग २)—पृ० २०७-२०८-२०९
२. रंगभूमि (भाग १)—„ ४१०
३. वही „ ४१४
४. „ „ ३४३

है कि वह हमारे प्रस्तावों का रूपान्तर करके अपना काम बना लेते हैं, और उन्ह जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगो की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है ।"[१]

'कायाकल्प' में भी प्रेमचंद राजा विशालसिंह का व्यक्तित्व इसी रंग में रंग कर चित्रित करते हैं । विशालसिंह जिले के मजिस्ट्रेट मि० जिम से जब मिलने जाते हैं तब उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार होता है, "थोड़ी देर तक तो राजा साहब बाग में टहलते रहे । फिर मोटर पर जा बैठे और घंटे भर इधर-उधर घूमते रहे । ८ बजे वह लौट कर आये, तो मालूम हुआ, अभी साहब नहीं आए । फिर लौटे, इसी तरह घंटे-घंटे भर के बाद वह तीन बार आये; मगर साहब बहादुर अभी तक न लौटे थे ।

सोचने लगे, इतनी रात गये अगर मुलाकात हो भी गई, तो बातचीत करने का मौका कहाँ । शराब के नशे में चूर होगा । आते ही आते सोने चला जायगा । मगर कम से कम मुझे देखकर इतना तो समझ जायगा कि वह बेचारे अभी तक खड़े हैं । शायद दया आ जाय ।" और जिम के आने पर—

"जिम—ओ ! डैम राजा, अभी निकल जाओ । तुम भी बागी है । तुम बागी की सिफारिश करता है, बागी को पनाह देता है । सरकार का दोस्त बनता है । अबी निकल जाओ । राजा और रैयत सब एक है । हम किसी का भरोसा नहीं करता । हमको अपने जोर का भरोसा है । राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है । उनका सिफारिश करना नहीं । अबी निकल जाओ ।

यह कह कर राजा साहब की ओर झपटा ।.....राजा दीन भाव से बोले—साहब, इतना जुल्म न कीजिए । इसका जरा भी ख्याल न कीजियेगा कि मैं शाम से अब तक आपके दरवाजे पर खड़ा हूँ ? कहिए तो आपके पैरों पड़ूँ । जो कहिए, करने को हाजिर हूँ । मेरी अर्ज कबूल कीजिए ।

जिम—ओ डैमिट । बक बक मत करो, सूअर अभी निकल जाओ, नहीं तो हम ठोकर मारेगा ।"[२] आगे प्रेमचंद ने विशालसिंह का जो क्रोध और मि० जिम से उनका मल्ल-युद्ध बताया है उसका कोई महत्व नहीं, क्योंकि जिम उस समय शराब में धुत था ।

विशालसिंह के राजगढ़ी के उत्सव में शामिल होने के लिए दूर-दूर से राजा महाराजा आये । प्रेमचंद उनके कैम्प का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "बड़े-बड़े नरेश आये थे । कोई चुने हुए दरबारियों के साथ, कोई लाव-लश्कर लिये हुए ।

---

१. रंगभूमि (भाग १)—पृ० ३४७-३४८
२. कायाकल्प—पृ० २०५-२०६

कहीं ऊदी वर्दियों की बहार थी, तो कहीं केसरिये बाने की । कोई रत्नजटित आभूषण पहने, कोई अंग्रेजी सूट से लैस; कोई इतना विद्वान कि विद्वानों में शिरोमणि, कोई इतना मूर्ख की मूर्ख मंडली की शोभा । कोई ५ घंटे स्नान करता था तो कोई सात घंटे पूजा । कोई दो बजे रात को सोकर उठता था, कोई दो बजे दिन को । रात-दिन तबले ठनकते रहते थे । कितने ही महाशय ऐसे भी थे, जिनका दिन अंग्रेजी-कैम्प का चक्कर लगाने में ही कटता था । दो चार सज्जन प्रजावादी भी थे ।...... विद्वान या मूर्ख राजसत्ता के स्तम्भ या लोकसत्ता के भक्त, सभी अपने को ईश्वर का अवतार समझते थे, सभी गरूर के नशे में मतवाले, सभी विलासिता में डूबे हुए, एक भी ऐसा नहीं, जिसमें चरित्र-बल हो, सिद्धान्त-प्रेम हो, मर्यादा-शक्ति हो ।"[१] उसी कैम्प के राजाओं का चित्रण करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं—"राजा रईस अपनी वासनाओं के सिवा और किसी के गुलाम नहीं होते ।"[२] इस प्रकार राजाओं की कापुरुषता तथा उनके विलासी जीवन का चित्रण 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में स्पष्ट रूप में किया गया है । इन राजाओं और रियासतों के अस्तित्व के पीछे जो कारण हैं उनका स्पष्टीकरण इंदु के मुख से प्रेमचंद करवाते हैं, "हमारे पूर्वजों ने अंग्रेजों की उस समय प्राण-रक्षा की थी, जब उनकी जानों के लाले पड़े हुए थे । सरकार उन अहसानों को मिटा नहीं सकती ।"[३] राजाओं ने जो देशद्रोही कार्य तथा देश के प्रति जो विश्वासघात किया उसके फलस्वरूप 'बखशीश' के रूप में उन्हें रियासतें दी गईं ।

राजाओं के चित्रण तक ही प्रेमचंद इस समस्या को स्पर्श नहीं करते वरन् और भीतर रियासतों के शासन प्रबन्ध पर भी प्रकाश डालते हैं । वास्तव में रियासतों के शासन-प्रबन्ध की दूषित प्रणाली बताना ही प्रेमचंद का मुख्य उद्देश्य है । राजाओं का तो वे चित्रण करके ही छोड़ देते हैं, उनके प्रति घृणा का कोई भाव पैदा नहीं होने देते । रियासती प्रबन्ध पर उन्होंने जगह-जगह जिस अतिरंजना या कटुता का परिचय दिया है, वह उक्त व्यवस्था की असारता व निरर्थकता का परिचायक है । जसवंतनगर के शासन प्रबन्ध पर डाकू वीरपाल विनय के प्रश्न पर टिप्पणी करता है—

"वीरपाल—...ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं । इनमें न दया है, न धर्म । हैं हमारे ही भाईबंद, पर हमारी गरदन पर छुरी चलाते हैं । किसी ने जरा साफ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुए । जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है । चोरी कीजिए, डाके डालिये, घरों में आग लगाइये, गरीबों

१. वही पृ० १३४
२. „ „ १४६
३. रंगभूमि (भाग १) पृ० ३७१

का गला काटिये, कोई आपसे न बोलेगा । बस, कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गर्म करते रहिए । दिन दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा । कोई फरियाद नहीं सुनता । कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं । यही समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का एक गोल है, सबके सब मिलकर शिकार करते हैं, और मिलजुल कर खाते हैं ।"[१]

रियासत का डाकिया विनय से कहता है—"तलब है, वह साल भर तक नहीं मिलती, लेकिन यहाँ जो जितने ही ऊँचे ओहदे पर है, उसका पेट भी उतना ही बड़ा है ।"[२]

न्यायालयों पर व्यंग्य करता हुआ वीरपाल विनय से कहता है, "यहाँ के न्यायालयों से न्याय की आशा रखना चिड़िया से दूध निकालना है । हम सब के सब इन्हीं अदालतों के मारे हुए हैं । मैंने कोई अपराध नहीं किया था, मैं अपने गाँव का मुखिया था; किन्तु मेरी सारी जायदाद केवल इसीलिए जब्त करली गई कि मैंने एक असहाय युवती को इलाकेदार के हाथों से बचाया था ।...... बस, इलाकेदार उसी दिन से मेरा जानी दुश्मन हो गया । मुझ पर चोरी का अभियोग लगाकर कैद करा दिया । अदालत अंधी थी, जैसा इलाकेदार ने कहा, वैसा न्यायाधीश ने किया । ऐसी अदालतों से आप व्यर्थ की आशा रखते हैं ।"[३]

बड़े-बड़े अफसरों पर व्यंग्य करते हुए वीरपाल विनय से कहता है कि रियासत आप जैसे धर्मपरायण, निर्भीक और स्वाधीन पुरुष के रहने योग्य जगह नहीं है, "यहाँ उसी का निबाह है, जो पहले दर्जे का घाघ, कपटी, पाखंडी और दुरात्मा हो, अपना काम निकालने के लिये बुरे से बुरा काम करने से भी न हिचके ।"[४]

वीरपाल ने जहाँ रियासत की स्थिति का वर्णन सीधे ढंग से अथवा व्यंग्य के साथ किया है वहाँ दीवान बड़े आलंकारिक ढंग से शासन का वर्णन करते हैं, "रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिये, जहाँ सूर्य का भी गुजर नहीं हो सकता । हम सब इस हरमसरा के बख्शी ख्वाजासरा हैं । हम किसी की प्रेम-रस-पूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देंगे, कोई मनचला जवान इधर कदम रखने का साहस नहीं कर सकता । अगर ऐसा हो, तो हम अपने पद के अयोग्य समझे जायँ । हमारा रसीला बादशाह, इच्छानुसार मनोविनोद के लिये, कभी-कभी यहाँ पदार्पण करता है । हरमसरा के सोये भाग्य उस दिन जाग जाते हैं ।....आपने इस हरमसरा में घुस

१, वही पृ० ३०२-३०३
२. रंगभूमि (भाग १) ,, ३०४-३०५
३. वही ,, ३१३-३१
४. वही ,, ३१

आने का दुस्साहस किया है, यह हमारे रसीले बादशाह को एक आँख नहीं भाता, और आप अकेले नहीं हैं, आपके साथ समाज सेवकों का एक जत्था है। इस जत्थे के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकाएँ हो रही हैं। नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्द हो सके, यह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय।....हम आपको अपने प्रेम-कुंज में आग न लगाने देंगे।"[१]

रियासतों का सम्बन्ध अफसरों की मनमानी पर निर्भर है। दीवान साहब कहते हैं, "सरकार की रक्षा में हम मनमानी कर वसूल करते हैं, मनमाने कानून हैं, मनमाने दंड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता।"[२] विनयसिंह के कारावास-दंड पर डाक्टर गांगुली अधिकारियों की निरंकुशता पर कहते हैं, "वहाँ का हाकिम लोग खुद पतित है। डरता है रियासत में स्वाधीन विचारों का प्रसार हो जायगा, तो हम प्रजा को कैसे लूटेगा। राजा मसनद लगाकर बैठा रहता है, उसका नौकर-चाकर मनमाना राज करता है।"[३] अफसरों की मनमानी का एक और उदाहरण वह घोषणा है जिसमें कहा गया है कि जसवंतनगर एक सप्ताह के लिए खाली कर दिया जाय। इस घोषणा पर सोफिया का मत रियासतों के प्रबन्ध की खुली आलोचना करता है, "ऐसी ज्यादती रियासतों के सिवा और कहीं नहीं हो सकती।"[४]

प्रेमचन्द बताते हैं कि इन रियासतों का शासन-प्रबन्ध न्याय पर नहीं आतंक पर निर्भर है। सरदार नीलकंठ सिंह विनय से कहता है "...उनके दिल से रियासत का भय जाता रहेगा, और जब भय न रहा, तो राज्य भी नहीं रह सकता। राज्य-व्यवस्था का आधार न्याय नहीं, भय है।"[५]

रियासती अफसरों के मनमाने अत्याचारों का वर्णन 'कायाकल्प' में भी विस्तार से किया गया है। मनोरमा चक्रधर से कहती है, "अभी एक गोरा आजाय, तो घर में दुम दबाकर भागेंगे। उस वक्त जबान भी न खुलेगी। उससे जरा आँखें मिलाइये तो देखिए, ठोकर जमाता है या नहीं। उससे तो बोलने की हिम्मत नहीं, बेचारे दीनों को सताते फिरते हैं। यह तो मरे को मारना हुआ। इसे हुकूमत नहीं कहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुरदे और गिद्ध का तमाशा है।"[६]

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृ० ३१६-३२०
२. वही „ ३२१
३. वही „ ४२६
४. रंगभूमि (भाग २) „ ३६
५. वही „ २००
६. कायाकल्प „ १३३

आदर्श राजाओं की बात अब कल्पना में ही सत्य हो सकती है। प्रेमचन्द इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे इसलिए उन्होंने उस आदर्श व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नहीं किया। समय बदल जाने पर आदर्श भी बदल जाते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं, "अब वह जमाना नहीं रहा, जब राजे-रईसों के नाम आदर से लिए जाते थे, जनता को स्वयं ही उनमें भक्ति होती थी। वे दिन बिदा हो गये। ऐश्वर्य-भक्ति प्राचीन काल की राज्य-भक्ति का एक अंश थी। प्रजा अपने राजा, जागीरदार, यहाँ तक कि अपने जमींदार पर सिर कटा देती थी। वह सर्वमान्य नीति-सिद्धान्त था कि राजा भोक्ता है, प्रजा भोग्य है। यही सृष्टि का नियम था, लेकिन आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध नहीं है, जन-सेवक और सेव्य का सम्बन्ध है। अब अगर किसी राजा की इज्जत है, तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति के कारण। अन्यथा उसकी दशा दाँतों तले दबी हुई जिह्वा की-सी है।"[१] फिर रियासतों की समस्या क्या है? प्रेमचन्द विनय के एक वाक्य में रियासतों के भविष्य पर लिखते हैं, "इससे तो यह कहीं अच्छा था कि रियासतों का निशान ही न रहता।"[२] रियासतों और राजाओं की निरर्थकता प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में भलीभाँति प्रकट कर दी है। रियासतों और देशी नरेशों का सारा दबदबा अंग्रेजी-सत्ता के कारण ही था, यह बात आज सिद्ध हो चुकी है।

---

१. रंगभूमि पृष्ठ ३६६

२. वही „ ३२६

साम्प्रदायिक समस्या

यहाँ साम्प्रदायिकता से अभिप्राय हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायों से है। भारत में हिन्दुत्व और इसलाम के झगड़े बहुत पुराने समय से चले आ रहे हैं। अतः हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या नई नहीं है; उसका अपना इतिहास है। इसलाम-धर्म जेता बनकर इस देश में आया। हिन्दुत्व का विनाश करके उसने अपना प्रसार करना चाहा। इसलाम की मजहबी कट्टरता ने उसे और उग्र बना दिया। अतः प्रारम्भ में इसलाम एक आक्रामक शक्ति थी। मुगल शासन-काल में उसे फैलाने के सभी अच्छे-बुरे साधन काम में लाये गए। इस तरह एक कटुता की भावना हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों में प्रारम्भ से उत्पन्न हो गई थी। मध्ययुगीन सन्तों और सूफियों ने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव दूर करने में काफी सहायता पहुँचाई। यदि सन्तों की यह परम्परा आगे और विकसित हुई होती तो सम्भव था उक्त समस्या का महत्त्व नगण्य रह जाता, लेकिन ब्रिटिश-शासन का सबसे बड़ा दुष्परिणाम हिन्दू-मुसलिम विरोध के रूप में सामने आया। हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाकर अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन की नींव मजबूत की और कूटनीतिक तौर-तरीकों से ऐसी भयावह स्थिति पैदा कर दी कि उक्त समस्या दिन पर दिन उलझती ही गई। उसे सुलझाने के सारे नेक उपाय व्यर्थ प्रमाणित हुए। इस इतिहास से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आधार धार्मिक नहीं है, वरन् उसका विशिष्ट राजनीतिक पहलू है जिसने एकता के किसी भी प्रयत्न को कारगर सिद्ध नहीं होने दिया। ऊपरी तौर पर उसका रूप धार्मिक दिखाई देता है, लेकिन वास्तव में धर्म का तो, राजनीतिक महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए मात्र 'हथियार' के रूप में नाम लिया गया। यदि राजनीतिक पहलू मूल में नहीं होता तो केवल धर्म के कारण इन दो जातियों में इतना वैमनस्य कभी नहीं बढ़ता। भारत में अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं और उनमें इतनी कटुता ढूँढ़े भी नहीं मिलती जितनी कि हिन्दू और इसलाम धर्म के माननेवालों में पाई जाती है।

इस राजनीतिक पहलू से हिन्दू और मुसलमान कभी अपरिचित नहीं रहे,

लेकिन व्यक्तिगत स्वार्थों ने उन्हें उचित मार्ग पर नहीं आने दिया। हिन्दुओं और मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति निर्माण करने के प्रयत्न जब निजी स्वार्थों से टकराये तब मजहब के नाम पर सीधी और धर्मपरायण जनता को बरगलाया गया और दंगे-फिसादों को प्रोत्साहित किया गया। अन्त में अंग्रेजों की चाल सफल हुई। देश को कमजोर बनाये रखने की नीयत से उसका विभाजन कर दिया गया। लेकिन देश का विभाजन कोई हिन्दू-मुसलिम समस्या का हल नहीं है। केवल कुछ लोगों की स्वार्थ-भावना की तृप्ति ही इससे होती है।

जिस तरह प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अनेक समस्याओं को स्थान दिया है उसी तरह उनमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या का भी प्रवेश किया गया है। ये उपन्यास 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'सेवासदन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कायाकल्प' में तो इस विषय पर पर्याप्त विस्तार से लिखा गया है। प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त समर्थक थे। उनकी रचनाएँ हिन्दू और मुसलमान दोनों समान चाव से पढ़ते हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त अनेक कहानियों में भी वे इस प्रश्न को लेकर चले हैं और उनमें मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के क्या कारण हैं; कौन से तत्त्व इन झगड़ों को उत्तेजना देते हैं, इस समस्या के सुलझाने का यथार्थ और स्थायी हल क्या हो सकता है, आदि विषयों पर प्रेमचन्द ने अपने विचार उपर्युक्त उपन्यासों में जगह-जगह व्यक्त किये हैं।

''कायाकल्प' में यह समस्या गाय की कुरबानी को मुख्य विषय बनाकर उपस्थित की गई है। आगरा शहर में गाय की कुरबानी पर फिसाद हो जाता है। इस तरह के फिसाद कौन लोग करवाते हैं? आगरा हिन्दू-सभा के मंत्री एवं सेवा-समिति के सदस्य यशोदानन्दन जब बनारस से लौटकर आगरा आते हैं तो एक थानेदार उनका भी असबाब देखना शुरू करता है। इस पर यशोदानन्दन आश्चर्य से पूछते हैं, क्यों साहब, आज यह सख्ती क्यों है?

थानेदार—आप लोगों ने जो काँटे बोये हैं, उन्हीं का फल है। शहर में फिसाद हो गया है।

यशोदा—अभी तीन दिन पहले तो अमन का राज्य था, यह भूत कहाँ से उठ खड़ा हुआ?

इतने में समिति का एक सेवक दौड़ता हुआ आ पहुँचा। यशोदानन्दन ने आगे बढ़कर पूछा—क्यों राधामोहन, यह क्या मामला हो गया? अभी जिस दिन मैं गया हूँ, उस दिन तक तो दंगे का कोई लक्षण न था।

राधा—जिस दिन आप गये, उसी दिन पंजाब से मौलवी दीन मुहम्मद साहब का आगमन हुआ। खुले मैदान में मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ उसमें

मौलाना साहब ने जाने क्या जहर उगला कि तभी से मुसलमानों को कुरबानी की धुन सवार है । इधर हिन्दुओं को यह जिद है कि चाहे खून की नदी बह जाय, पर कुरबानी न होने पायेगी । दोनों तरफ से तैयारियाँ हो रही हैं, हम लोग तो समझा कर हार गये ।"[१] इसमें संदेह नहीं कि इन फिसादों को चाहे किसी भी उद्देश्य से पैदा किया जाता हो, पर, उनको उत्तेजना मजहब से ही मिलती है । मजहब भी वह जिसे दकियानूस मौलवी या पंडे बताते हैं । धर्म के नाम पर ही यह सारे कुकृत्य होते हैं, हुए हैं । अच्छे-अच्छे लोग धार्मिक भावावेश में आकर हिंसक बन जाते हैं, पथभ्रष्ट हो जाते हैं, मानवताहीन हो जाते हैं । ख्वाजा महमूद जिन्हें हिन्दू फरिश्ता समझते थे, जो हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली सेवा-समिति के सदस्य थे, मौलवी दीन मुहम्मद साहब की तकरीर से इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि कुरबानी को लेकर होनेवाले फिसाद का नेतृत्व करने लगते हैं । यशोदानन्दन इस कायापलट पर अपना मत प्रकट करता है, "अगर महमूद में सचमुच यह कायापलट होगई है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करनेवाली वस्तु संसार में नहीं है ।"[२] इधर हिन्दू भी उत्तेजित हो जाते हैं । स्वयं यशोदानन्दन, जिसने अभी तक मानसिक सन्तुलन नहीं खोया था, चुनौती के स्वर में कहता है, "ख्वाजा महमूद के द्वार पर कुरबानी होगी । उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी कुरबानी हो जायगी, या ख्वाजा महमूद की । और ताँगे में बैठकर वे तुरन्त रंगभूमि पर पहुँच जाते हैं जहाँ ख्वाजा महमूद से उनकी भेंट होती है । यशोदानन्दन ने त्योरियाँ बदलकर कहा—"क्यों ख्वाजा साहब, आपको याद है, इस मुहल्ले में कभी कुरबानी हुई है ?

महमूद—जी नहीं, जहाँ तक मेरा ख्याल है, यहाँ कभी कुरबानी नहीं हुई ।

यशोदा—तो फिर आज आप यहाँ कुरबानी करने की नयी रस्म क्यों निकाल रहे हैं ?

महमूद—इसलिये कि कुरबानी करना हमारा हक है । अब तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे, अपने माने हुए हक को भूल गये थे; लेकिन जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे जजबात की परवा नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जजबात की परवा करें । मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है; लेकिन कम से कम पाँच सौ बरसों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती । आप लोगों ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है । इसलिये न, कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाय । जब आप हमें जेर करने के लिये नये-नये हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिये इसके सिवा और क्या चारा है कि हम अपने हथियार को दूनी ताकत से चलायें ।

१, कायाकल्प—पृष्ठ ३०
२. वही „ ३१

यशोदा—इसके यह मानी है कि कल आप हमारे द्वारों पर, हमारे मन्दिरों के सामने, कुरबानी करें और हम चुपचाप देखा करें। आप यहाँ हरगिज कुरबानी नहीं कर सकते और करेंगे, तो इसकी जिम्मेदारी आपके सिर होगी।"[१] प्रेमचंद ने यहाँ बताया है, और आगे भी, कि यदि दोनों कौमें एक-दूसरे की भावनाओं का ख्याल रखने लगें तो बहुत से ऐसे मामूली झगड़े जो आगे चलकर भीषण दंगे का रूप लेते हैं, अपने आप समाप्त हो जायँ। एक गाय के पीछे, एक पशु के पीछे, इंसानों का खून बहाना कभी भी मानवीय नहीं कहा जा सकता। गौ-हत्या यदि पाप है तो मानव-हत्या महापाप। यशोदानन्दन से चक्रधर कहता है, "अहिंसा का नियम गौओं के लिये ही नहीं, मनुष्यों के लिये भी तो है।"[२] निःसंदेह गौ-हत्या भी जिस दृष्टिकोण से की जाती है वह भी नितान्त अनुचित है। मूल कारण मनुष्य का विचार से काम न लेने की प्रवृत्ति है। यशोदानन्दन और चक्रधर वाद-विवाद करते हैं—

"यशोदा—कैसी बातें करते हो, जी। क्या यहाँ खड़े होकर अपनी आँखों से गौ की हत्या होते देखें?

चक्रधर—अगर आप एक बार दिल थाम कर देख लेंगे, तो यकीन है कि फिर आपको कभी यह दृष्य न देखना पड़ेगा।

यशोदा—हम इतने उदार नहीं हैं।........

चक्रधर—तो फिर आइये, लेकिन उस गौ को बचाने के लिये आपको अपने एक भाई का खून करना पड़ेगा।"[३] यहाँ प्रेमचंद बड़े यथार्थ ढंग से समस्या प्रस्तुत कर रहे थे कि अंत में चक्रधर को गांधीवादी बनाकर समस्या को वैयक्तिक रूप दे देते हैं। चक्रधर हिन्दुओं को, इस प्रकार, शांत करके फिर मुसलमानों के बीच में जाता है। प्रेमचन्द इसलाम की उदारता की ओर संकेत करवाते हुए चक्रधर से, एक दूसरे की भावनाओं की कद्र करने वाली बात को यहाँ पुनः दोहराते हैं, "इसलाम की इज्जत मेरे दिल में है, वह मुझे बोलने के लिये मजबूर कर रही है। इसलाम ने कभी दूसरे मजहबवालों की दिलजारी नहीं की। उसने हमेशा जजबात का एहतराम किया है। बगदाद और रूम, स्पेन और मिश्र की तारीखें उस महजबी आजादी की शाहिद हैं, जो इसलाम ने उन्हें अता की थीं। अगर आप हिन्दू जजबात का लिहाज करके किसी दूसरी जगह कुरबानी करें, तो यकीनन इसलाम के वकार में फर्क न आयेगा।"[४]

१. कायाकल्प—पृ० ३३
२. वही ,, ३४
३. वही ,, ३५
४, वही ,, ३७

मनुष्यता सद्विचारों के सम्मुख सोई नहीं रह सकती। ख्वाजा महमूद जो मौलवी दीन मुहम्मद के भाषणों से मानवता-विरोधी कार्य करने को उद्यत हो गए थे चक्रधर की विवेक संगत दलील सुनकर सचेत हो जाते हैं। प्रेमचंद यहाँ पर भी झगड़ों के उकसाने वालों का भलिभाँति पर्दाफाश करते हैं, "ख्वाजा महमूद बड़े गौर से चक्रधर की बातें सुन रहे थे। मौलवी साहब की उद्दण्डता पर चिहुँक कर बोले, "क्या शरीयत का हुक्म है कि कुरबानी यहीं हो ? किसी दूसरी जगह नहीं की जा सकती।........

आपको तो अपने हलवे भाड़े से काम है, जिम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयेगी, दुकानें तो हमारी लुटेंगी, आपको पास फटे बोरिया और फूटे बधने के सिवा और क्या रहा है ?....

चक्रधर—....हर एक कुरबानी हिन्दुस्तान के २१ करोड़ हिन्दुओं के दिलों को जखमी कर देती है, और इतनी बड़ी तादाद के दिलों को दुखाना बड़ी से बड़ी कौम के लिये भी एक दिन पछतावे का बाइस हो सकता है। हिन्दुओं से ज्यादा बेतअस्सुब कौम दुनिया में नहीं है; लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिये कुरबानी चाहते हैं, तो उनको सदमा जरूर होता है। और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप ख्याल नहीं कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, तो देख लीजिये कि इस गाय के साथ ही एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे सकता है।"[1]

जिस तरह हिन्दुओं के धार्मिक जोश को शांत करने के लिये चक्रधर, गांधीवादी ढंग अपनाता है, उसी तरह मुसलमानों को शांत करने के लिये भी, "यह कहते हुए चक्रधर ने तेजी से लपक कर गाय की गरदन पकड़ ली और बोले, आपको इस गौ के साथ एक इन्सान की भी कुरबानी करनी पड़ेगी।

ख्वाजा—कसम खुदा की, तुम जैसा दिलेर आदमी नहीं देखा। नाम के लिये तो गाय को माता कहने वाले बहुत हैं, पर ऐसे बिरले ही देखे, जो गौ के पीछे जान लड़ा दें। तुम कलमा क्यों नहीं पढ़ लेते ?

चक्रधर—मैं एक खुदा का कायल हूँ। वही सारे जहान खालिक और मालिक है। फिर और किस पर ईमान लाऊँ।

ख्वाजा—वल्लाह, तब तो तुम सच्चे मुसलमान हो। हमारे हजरत को अल्लाह ताला का रसूल मानते हो ?

चक्रधर—बेशक मानता हूँ, उनकी इज्जत करता हूँ और उनकी तौहीद का कायल हूँ।

---

१. कायाकल्प—पृष्ठ ३७ से ३६

ख्वाजा—हमारे साथ खाने पीने से परहेज तो नहीं करते ?

चक्रधर—जरूर करता हूँ, उसी तरह, जैसे किसी ब्राह्मण के साथ खाने से परहेज करता हूँ, अगर वह पाक-साफ न हो ।

ख्वाजा—काश, तुम जैसे समझदार तुम्हारे और भाई भी होते । मगर यहाँ तो लोग हमें मलिच्छ कहते हैं । यहाँ तक कि हमें कुत्तों से भी नजिस समझते हैं । उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं; पर मुसलमान उनकी गिलास में पानी नहीं पी सकता । ... अब कुछ-कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों कौमों में इत्तफाक हो जाय ।"[1] प्रेमचंद ने यहाँ उक्त, प्रकरण को समाप्त करने में जो भी ढंग अपनाया हो, पर यह बात निर्विवाद है कि हिन्दू-मुस्लिम फिसादों के पीछे जो गाय की कुरबानी प्रायः मूल कारण के रूप में सामने आती है उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । उपन्यासकार इससे अधिक विस्तार उक्त प्रकरण का कर भी नहीं सकता । यह प्रेमचंद जी की ही कला है जो इन अनेक वातों को मिलाकर भी उपन्यास की रोचकता कम नहीं होने देती ।

वास्तव में इस तरह के दंगे न हिन्दू चाहते हैं और न मुसलमान । छोटे या बड़े सभी झगड़ों की बुनियाद में भय का भाव निहित है । जब हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से भयभीत होना छोड़ देंगे तब यह साम्प्रदायिक वातावरण स्वतः सुधर जायगा । चक्रधर मनोरमा से कहता है—"मुसलमानों को लोग नाहक बदनाम करते हैं । फिसाद से वे भी उतना ही डरते हैं, जितना हिन्दू । शांति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है । लोगोंका यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं, बिल्कुल गलत है । मुसलमानों को केवल यह शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते हैं, और उनकी हस्ती को मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं । इसी भय से वे जरा-जरा सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने-मारने पर आमादा हो जाते हैं ।"[2] दूसरे कुछ लोग अपने निजी लाभ व स्वार्थ के लिए भी इन झगड़ों को बनाए रखना चाहते हैं । अहल्या से ख्वाजा महमूद कहते हैं, "दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज्जत और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है । बस, वह एक न एक शिगूफा छोड़ा करते हैं । मेरा तो यह कौल है कि हिन्दू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो । सारी खूबियाँ किसी एक ही कौम के हिस्से में नहीं आतीं ; न सभी हिन्दू राक्षस हैं न सब मुसलमान देवता हैं; इसी तरह न सभी हिन्दू काफिर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन । जो आदमी दूसरी कौम से जितनी ही नफरत करता है,

१. कायाकल्प—पृष्ठ ३९-४०

२. वही ,, ५७

समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है ।"[१] ऐसे लोग सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को अपने हित में डालने का प्रयत्न करते हैं ।

'सेवासदन' में एक इमामबाड़े का वली तेगअली कहता है, "इस वक्त, उर्दू हिन्दी का झगड़ा, गोकशी का मसला, जुदागाना इन्तखाब, सूद का मुआविजा कानून, इन सबों से महजबी तास्सुब के भड़काने में मदद ली जा रही है ।"[२]

'कायाकल्प' का पच्चीसवाँ परिच्छेद प्रेमचंद ने साम्प्रदायिक समस्या के निमित्त ही लिखा है । इस परिच्छेद में साम्प्रदायकि दंगों के कारणों, उसके स्वरूप और परिणाम पर बड़ी विस्तृत चर्चा है । प्रेमचंद लिखते हैं, "......हिन्दुओं और मुसलमानों में आए दिन जूतियाँ चलती रहती थीं ।......निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे ।...मुसलमानों ने बजाजे खोले, हिन्दू नैचे बाँधने लगे । सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन । दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते । दोनों देवताओं के भाग्य जागे, यहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहाँ पुजारी जी की भंग घुटने लगी । मसजिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बदखल किया । जहाँ सांड़ जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हँडिया चढ़ी । हिन्दुओं ने 'महाबीर दल' बनाया, मुसलमानों ने 'अलीगोल' सजाया । ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी, मसजिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति । ख्वाजा साहब ने फताव दिया, जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाये, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा । यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मंगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौ-दानों से श्रेष्ठ है ।"[३] आगे चलकर, होली के अवसर पर, भयंकर दंगा हो जाता है । प्रेमचंद ने दंगे का जो विस्तृत वर्णन दिया है, उसे पढ़कर पाठक का हृदय विक्षोभ से भर उठता है और उसे साम्प्रदायिकता से घृणा हो जाती है ।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साम्प्रदायिक-समस्या को अंग्रेज साम्राज्य-वादियों ने राजनीतिक रूप दे रखा था । फूट डालकर शासन करने की नीयत अपनाकर अंग्रेज अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते थे । उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव पनपने दिया । दोनों कौमों के सम्बन्ध किस सीमा तक पहुँच चुके थे उनका स्पष्ट वर्णन प्रेमचंद तेगअली के मुँह से करवाते हैं, "आज कल पोलिटिकल

१. कायाकल्प—पृष्ठ ४२७
२. सेवासदन ,, २४६
३. कायाकल्प ,, २५६

मफाद का जोर है, हक और इंसाफ का नाम न लीजिये । अगर आप मुर्दरिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिये । तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइये, मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सजाएँ दीजिये । सब-इन्सपेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओं पर झूठे मुकदने दायर कीजिये, तहकीकात करने जाइये तो हिन्दुओं के बयान गलत लिखिये, अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर डाका डालिये, अगर आपको हुस्न और इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उड़ाइये, तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहसिन, कौमी किश्ती के नाखुदा सब कुछ हैं ।"[१] ऐसी स्थिति में यह समस्या दिन-पर-दिन जटिलतर होती गई । प्रेमचंद ने साम्प्रदायिक समस्या के हल के निमित्त कई सुझाव अपने उपन्यासों में दिये हैं । सर्वप्रथम धर्म की सच्ची शिक्षा देना आवश्यक है । धर्मान्धता का विरोध करते हुए चक्रधर कहता है : "जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा होगी । मुश्किल यह है कि जिन महान् पुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़कर उद्दण्ड हो जाते हैं । मैं तो नीति को धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है । अगर अन्तर है तो बहुत थोड़ा । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं । हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए । ये मानव जाति के निर्माता हैं । जो इनमें से किसी का अनादर करता है, या उनकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है । बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू । देखना यह चाहिए कि यह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है । संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा । हमें अगर संसार में जीवित रहना है, तो अपने हृदय में इन्हीं बातों का संचार करना पड़ेगा ।"[२] दूसरी आवश्यकता मध्ययुगीन इतिहास को स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टि से लिखने की है । साम्राज्यवादियों ने भारत के इतिहास को अपने दृष्तिकोण से लिखा है । उन्होंने वहाँ हिन्दू राजाओं और मुगल बादशाहों के वर्णन में इस वैमनस्य को गाढ़ा करके बताया है और आगामी पीढ़ियों के हृदयों में द्वेष की विषैली भावनाएँ भरने के प्रयत्न किए हैं । 'कर्मभूमि' में जिला हाकिम गजनवी गलत तवारीख के सम्बन्ध में सलीम से कहता है, "गलत तवारीखें पढ़-पढ़ कर दोनों फिरके एक-दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से फौजी अदावतों का बदला न लें, लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवीं सदी में हिन्दुओं जैसी

१. सेवासदन—पृष्ठ १७४

२. कायाकल्प—,, २२७

पढ़ी-लिखी जमाअत महजबी गरोहबन्दी की पनाह नहीं ले सकती। मजहब का दौरा तो खत्म हो रहा है, बल्कि यों कहो कि खत्म हो गया। सिर्फ हिन्दुस्तान में उसमें कुछ-कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का जमाना है। अब कौम में अमीर और गरीब, जायदाद वाले, और मर-भूखे, अपनी-अपनी जमाअतें बनायेंगे। उनमें कहीं ज्यादा खूंरेजी होगी, कहीं ज्यादा तंगदिली होगी। आखिर एक दो सदी के बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जायगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी।"[1] तीसरे, प्रेमचंद ने अपसी झगड़ों को निपटाने के लिए पंचायत का सुझाव भी रखा है। 'कायाकल्प' में ख्वाजा महमूद और चक्रधर तय करते हैं, "एक पंचायत बनायी जाय और आपस के झगड़े उसी के द्वारा तय हुआ करें।"[2]

हिन्दू-मुसलमान एकता के बड़े मार्मिक चित्र प्रेमचंद-साहित्य में विद्यमान हैं। 'कर्मभूमि' में लाला समरकांत और सलीम के भोजन करने का दृश्य हमारे घायल हृदय पर मलहम का काम करता है। प्रेमचंद छुआछूत की असारता कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं, "भोजन का समय आमया था। सलीम ने पूछा, आपके लिये क्या खाना बनवाऊँ?... मैं, तो आज आपको अपने साथ बैठाकर खिलाऊँगा।

तुम प्याज, मांस, अण्डे खाते हो। मुझसे उन बर्तनों में खाया ही न जायगा।

आप यह सब कुछ न खाइयेगा। मगर मेरे साथ बैठना पड़ेगा मैं रोज साबुन लगाकर नहाता हूँ।... आपका खाना हिन्दू बनायेगा।

.... सेठ जी सन्ध्या करके लौटे, तो देखा, दो कम्बल बिछे हुए हैं और दो थालियाँ रखी हुई हैं।

सेठ जी ने खुश होकर कहा—यह तुमने बहुत अच्छा इन्तजाम किया।

सलीम ने हँसकर कहा—मैंने सोचा, आपका धर्म क्यों लूँ, नहीं, एक ही कम्बल रखता।

अगर यह ख्याल है तो तुम मेरे कम्बल पर आजाओ। नहीं मैं ही आता हूँ।

वह थाली उठाकर सलीम के कम्बल पर आ बैठे। अपने विचार में आज उन्होंने अपने जीवन का सबसे महान् त्याग किया। सारी सम्पत्ति दान देकर भी उनका हृदय गौरवान्वित न होगा।

सलीम ने चुटकी ली—अब तो आप मुसलमान हो गये।

---

१. कर्मभूमि—पृष्ठ २२-२२३

२. कायाकल्प—,, ४४

सेठजी बोले—मैं मुसलमान नहीं हुआ। तुम हिन्दू होगये।'[1]

स्पष्ट है प्रेमचंद समस्यामूलक उपन्यासकार हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने वाला लेखक उपर्युक्त बातों को अपने उपन्यास में कोई स्थान नहीं देगा; जब कि प्रेमचंद उनको बड़ा महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। यदि उनके उपन्यासों में ये स्थल या ऐसे अन्य स्थल निकाल दिये जाएँ तो वे निश्चय ही अपना प्रभाव खो देंगे। जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना को प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया था और मानवता को उच्च विचारों की जो अमूल्य सम्पत्ति सौंपी थी वह काम में नहीं लाई गई। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य किस सीमा तक गया। कैसी-कैसी अमानुषिक नृशंस हत्याएँ की गईं। यदि प्रेमचंद आज जीवित होते तो यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि उनके उपन्यासों में कितनी आग होती। मनुष्य को सभ्य बनाने के लिये साहित्य सबसे प्रभावशाली माध्यम है। साहित्यकार की कृतियों का जनता में समुचित प्रचार होना चाहिये। राजनीतिज्ञों के मात्र भाषणों से जनता के हृदय पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ सकता। प्रेमचंद ने जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वप्न देखा था वह उनके जीवनकाल में तो साकार न हो सका और न आगे भी, वरन् उस एकता की नींव ही ढहती ज्ञात हुई, पर, जब तक प्रेमचंद-साहित्य जीवित है, साम्प्रदायिकता की घृणित दानवी कभी भी अपने खूनी पंजे मानवता के हृदय पर नहीं गड़ा सकती। प्रेमचंद साहित्य उसको एक चुनौती है।

---

१. कर्मभूमि— पृष्ठ ३५४-३५५

शैक्षणिक समस्या

प्रेमचंद केवल उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, व पत्रकार ही नहीं थे, वरन् समाज के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करनेवाले एक जागरूक साहित्यकार थे। वे विचारक थे। उनके विचार ही उनके समग्र साहित्य के प्राण हैं। उपन्यासों में भी वे अपने विचारों को ही प्रधानता देते हैं। ये विचार भारतीय जीवन की विभिन्न समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं, जो उनकी कृतियों में जगह-जगह बिखरे हुए हैं। स्पष्ट है, उपन्यासों में ये विचार पात्रों के मुख से ही प्रकट किए जा सकते हैं, लेखक अपनी ओर से तो संक्षेप में टिप्पणी मात्र दे सकता है। मानव-जीवन को सुसंस्कृत करने और उसे पूर्ण विकास की ओर ले जाने में शिक्षा का स्थान सर्वोपरि है। प्रेमचंद जैसे सचेत लेखक शिक्षा जैसे विषय को कैसे छोड़ सकते थे ? अतः उनके उपन्यासों में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति और उसमें सुधार करने की समस्या का प्रवेश किया गया है।

प्रेमचंद ने शिक्षा का उद्देश्य, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अध्यापकों और युवकों की मनोवृत्ति, शैक्षणिक संस्थाओं, पाठ्यक्रमों आदि पर अपने कुछ उपन्यासों में चर्चा की है। ये उपन्यास 'वरदान', 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि', विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आलोचकों ने प्रेमचंद के शिक्षासंबंधी विचारों की ओर ध्यान नहीं दिया है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर को आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त थीं अतः वे अपने शिक्षासम्बन्धी विचारों को मूर्त्त रूप दे सके। प्रेमचंद के पास ऐसा कोई साधन नहीं था। फिर भी वे अपने विचारों की शैक्षणिक-संस्था "कर्मभूमि" में छोड़ गए हैं, जो उनके महान् शिक्षा-शास्त्री होने का प्रमाण देती है।

प्रेमचंद ने एक निर्धन विद्यार्थी का जीवन व्यतीत किया था। वे उन सभी कष्टों और आपदाओं से परिचित थे जो एक निर्धन छात्र को उठानी पड़ती हैं। प्रेमचंद के शब्दों में, "एक कुप्पी के सामने रात को बैठकर टाट बिछाकर बढ़ता।[१] पाँच रुपये का ट्यूशन करके आठ रुपये में अपना गुजर करता था। सुबह उठकर

१. प्रेमचंद घर में—पृ० ८

हाथ मुँह धोकर रोटी पकाता, रोटियाँ सेक कर स्कूल जाता।"[१] एक बार रोटी के लिये उन्हें अपनी पुस्तकें बेचनी पड़ी थीं, "जाड़ों के दिन थे, पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का खाकर काटे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। संकोचवश मैं उनसे माँग न सकता था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर किताब बेचने गया। एक चक्रवर्ती गणित कुंजी दो साल हुए खरीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक रुपये पर सौदा तय हुआ।"[२] इस प्रकार विद्यार्थी जीवन में ही प्रेमचंद अपने समय के शिक्षा-सम्बन्धी अनेक दोषों से अत्यधिक निकट से परिचित हो गए थे। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की आलोचना, पुस्तकालयों से शिक्षासम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर नहीं की, उसमें उनके जीवन के अनुभव निहित हैं। इसलिए उनके विचार विशेष महत्व रखते हैं।

आगे चलकर प्रेमचंद एक विद्यालय के प्रधानाध्यापक की कृपा से अठारह रुपये मासिक पर अध्यापक हो गए। कानपुर, बस्ती, गोरखपुर आदि स्थानों में उन्होंने अध्यापन का कार्य किया। डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर की हैसियत से छह साल उन्होंने महोबे में बिताए। इस बीच अध्यापक-वर्ग की मनोवृत्ति से ही उनका परिचय नहीं हुआ, वरन् अधिकारी-वर्ग की नौकरशाहीवृत्ति का भी उन्हें सामना करना पड़ा। गोरखपुर में इन्स्पेक्टर के निरीक्षण की घटना यहाँ उद्धृत करना संगत होगा, "जाड़े के दिन थे। स्कूल का इन्सपेक्टर मुआयना करने आया था। एक रोज तो इन्सपेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया। दूसरे रोज लड़कों को गेंद खेलाना था। उस दिन आप नहीं गये। छुट्टी होने पर आप घर चले आये। आरामकुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अखबार पढ़ रहे थे, कि सामने ही इन्स्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्स्पेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा। अर्दली जब आया तो आप गये।

"कहिये क्या है?"

इन्स्पेक्टर—"तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नहीं करते।"

"मैं जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ। यह आपने अच्छा नहीं किया। इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर केस चलाऊँ।"

---

१. प्रेमचद घर में—पृष्ठ १२

२. जीवनसार

इन्स्पेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर केस चलाना चाहिये। मित्रों ने सलाह दी, जाने दीजिये। आप भी उसे मगरूर कह सकते थे। हटाइये इस बात को। मगर इस बात की कुरेदन उन्हें बहुत दिनों तक रही।"[१] प्रेमचंद जैसे स्वाभिमानी मनुष्य के जीवन में ऐसी घटना का होना स्वाभाविक बात है। आगे चलकर देश पर होनेवाले अंग्रेजी शासन के अत्याचारों से खिन्न होकर उन्होंने अपनी पच्चीस साल की नौकरी पर लात मार दी। अभिप्राय यह कि प्रेमचंद ने जिस प्रकार एक निर्धन छात्र का जीवन व्यतीत किया था उसी प्रकार एक अभाव-ग्रस्त अध्यापक का जीवन भी बिताया था। अतः शिक्षा के क्षेत्र में उनकी धारणाएँ कितनी महत्वपूर्ण होंगी उसका अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचंद शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए आज के अध्यापकों के रहन-सहन तथा विचारों की आलोचना करते हुए लिखते हैं, "जीवन को सफल बनाने के लिये शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है हमारा सेवा-भाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता। अगर यह डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जागरित नहीं हुई, तो कागज की डिग्री व्यर्थ है। उसे (अमरकांत) इस शिक्षा ही से घृणा हो गई है। जब वह अपने अध्यापकों को फैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिये नाक रगड़ते, कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ के लिये हाथ पसारते देखता, तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी। और इन्हीं महानुभावों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर है। यही कौम के विधाता हैं।"[२] प्रेमचंद भारत के प्राचीन आदर्शों के कायल थे, अतः अतीत के अध्यापकों की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं, "तब अमर को उस अतीत की याद आती, जब गुरुजन झोंपड़ी में रहते थे, स्वार्थ से अलग, लोभ से दूर, सात्विक जीवन के आदर्श, निष्काम सेवा के उपासक। वह राष्ट्र से कम से कम लेकर अधिक देते थे। वह वास्तव में देवता थे। और एक यह अध्यापक हैं, जो किसी अंश में भी एक मामली व्यापारी या राज्य कर्मचारी से पीछे नहीं। इनमें भी वही दम्भ है, वही धनमद है, वही अधिकार मद है। हमारे विद्यालय क्या हैं, राज्य के विभाग हैं, और हमारे अध्यापक उसी राज्य के अंग हैं। ये खुद अंधकार में पड़े हुए हैं, प्रकाश क्या फैलायेंगे? वे आप अपने मनोविकारों के कैदी हैं, आप अपनी इच्छाओं के गुलाम हैं, और अपने शिष्यों को भी उसी कैद और गुलाम में डालते हैं।"[३] इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रेमचंद गुरुकुल-पद्धति को पुनर्जीवित करना चाहते थे। विगत युग की अच्छाइयों को आज भी अपनाया जाना चाहिए, केवल यह ध्वनि उक्त उद्धरण से निकलती है।

१. प्रेमचंद घर में—पृष्ठ ५४-५५

२. कर्मभूमि—पृ० १०८

३. „ „ १०८

जिस प्रकार अध्यापक वर्ग पर स्पष्ट आलोचना है उसी प्रकार देश के नवयुवकों की मनोवृत्ति पर भी प्रेमचंद ने खुलकर लिखा है, जिससे उसमें कुछ सुधार हो सके, वे शिक्षा के वास्तविक महत्व को समझ सकें। अधिकांश नवयुवक कोई ऊँचा सरकारी पद पा जाने की नीयत से ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। 'कर्मभूमि' में सलीम का यही आदर्श है, "वह एम. ए. की तैयारी कर रहा था। उसकी अभिलाषा थी कि कोई अच्छा सरकारी पद पा जाय और चैन से रहे। सुधार और संगठन और राष्ट्रीय आन्दोलन से उसे विशेष प्रेम न था।"[१] एक और स्थल पर डा० शांन्तिकुमार से कहता है, "यह तो आप जानते ही हैं, मैं एक सीधा जुमला ठीक नहीं लिख सकता, मगर लियाकत कौन देखता है ? यहाँ तो सनद देखी जाती है।"[२] प्रेमचंद ने शिक्षा का उद्देश्य रोटी प्राप्ति कभी नहीं समझा। 'रोटी-रोजी' (B ead and Butter) को शिक्षा का सिद्धान्त माननेवालों के वे कड़े विरोधी थे। 'कायाकल्प' में प्रेमचंद का आदर्श-पात्र चक्रधर शिक्षा और नौकरी पर अपना स्पष्ट मत अपने पिता वज्रधर के सामने रखता है—

"चक्रधर—"मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।"

वज्रधर—"यह खब्त तुम्हें कब से सवार हुआ ? नौकरी के सिवा और करोगे ही क्या ?"

चक्रधर—"मैं आज़ाद रहना चाहता हूँ।"

वज्रधर—"आज़ाद रहना था तो एम. ए. क्यों पास किया ?"

चक्रधर—"इसलिए की आज़ादी का महत्व समझूँ।"[३]

प्रेमचंद को यह बात हास्यास्पद मालूम होती थी, "आदमी केवल पेट पालने के लिये आधी उम्र पढ़ने में लगा दे। अगर पेट पालना ही जीवन का आदर्श हो, तो पढ़ने की जरूरत ही क्या ? मजदूर एक अक्षर भी नहीं जनता, फिर भी वह अपने और अपने बार-बच्चों का पेट बड़े मजे से पाल लेता है। विद्या के साथ जीवन का आदर्श कुछ ऊँचा न हुआ, तो पढ़ना व्यर्थ है।"[४] अतः प्रेमचंद की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन जीवन के आदर्श को ऊँचा उठाना है। तत्कालीन शिक्षा का उद्देश्य इस सिद्धान्त से कोसों दूर था। अतः प्रेमचंद अपने समय की शिक्षा-पद्धति से बड़े असंतुष्ट थे। बड़े-बड़े डिग्रीधारियों की आलोचना करते हुए 'कर्मभूमि' में वे लिखते हैं, "जिसके पास जितनी भी बड़ी डिग्री है, उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है। मानो लोभ और स्वार्थ ही विद्वत्ता का लक्षण है। गरीबों को रोटियाँ

---

१. भूकर्मभि—पृ० १११
२. ,, ,, २३१
३. कायाकल्प ,, ७
४. कायाकल्प—,, ७-८

मयस्सर न हों, कपड़ों को तरसते हों, पर हमारे शिक्षित भाइयों को मोटर चाहिए, बँगला चाहिए, नौकरों की एक पलटन चाहिए ।"[१]

आज के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों पर वज्रधर से टिप्पणी करवाते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, "जैसे और भी चीजें बनाने के कारखाने खुल गए हैं, उसी तरह विद्वानों के कारखाने हैं और उनकी संख्या हर साल बढ़ती जाती है ।"[२] पश्चिमी सभ्यता की बुराइयों में शिक्षापद्धति का स्थान प्रमुख है । पश्चिमी आदर्शों से प्रभावित शिक्षा-पद्धति पर छात्र अमरकान्त के मुख से प्रेमचन्द बड़ा तीखा व्यंग्य करवाते हैं, "बताना क्या है, पश्चिमी-सभ्यता की बुराइयाँ हम सब जानते ही हैं । वही बयान कर देना ।"

"तुम जानते होगे, मुझे तो एक भी नहीं मालूम ।"

"एक तो यह तालीम ही है, जहाँ देखो, वही दुकानदारी । अदालत की दुकान, इल्म की दुकान, सेहत की दुकान। इस एक पाइन्ट पर बहुत कुछ कहा जा सकता है ।"[३]

इसी प्रकार डा. शांतिकुमार के माध्यम से भी प्रेमचंद पाश्चात्य शिक्षा की आलोचना करते हुए अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं । डॉ. शांतिकुमार की "तालीमी इसलाह" पर स्पीच होने वाली है । डा. शांतिकुनार के शब्दों में, "यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टरों को तबाह किये डालती है । हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है । व्यापार में ज्यादा नफा होगा । तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पाओगे । मैं चाहता हूँ, ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए मुआफ हो, ताकि गरीब से गरीब आदमी भी ऊँची से ऊँची लियाकत हासिल कर सके और ऊँचे से ऊँचे ओहदे को पा सके । यूनिवर्सिटी के दरवाजे मैं सबके लिये खुले रखना चाहता हूँ । सारा खर्च गवर्नमेन्ट पर पड़ना चाहिए । मुल्क को तालीम की उससे कहीं ज्यादा जरूरत है, जितनी फौजकी।"[४] फौज और शिक्षाके इस अनुपात को प्रेमचंद ने समझा था, किसी भी देश की रक्षा मात्र सामरिक-शक्ति बढ़ा देने से नहीं हो सकती, जब तक कि उस देश के नवयुवक उच्च आदर्शों की वाहक शिक्षा ग्रहण नहीं करते । खेद है, प्रेमचंद के इन विचारों पर नवोदित राष्ट्र के कर्णधार ध्यान नहीं देते और वही किराए की शिक्षा ज्यों की त्यों कायम है जो भावी पीढ़ी के चरित्र को नष्ट कर रही है ।

'कर्मभूमि' उपन्यास का प्रारम्भ ही आधुनिक-शिक्षा पर व्यंग्य के साथ होता है। शैक्षणिक संस्थाओं का यथार्थ चित्रण करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, "हमारे

---

२. कर्मभूमि— „ १०६
३. कायाकल्प „ ७
४. कर्मभूमि— „ ६
५. „ „ ७७

स्कूलों और कालेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। महीने में एक दिन नियत कर दिया जाता है। उस दिन फीस दाखिल न हो, रोज कुछ जुर्माना दीजिए। कहीं-कहीं ऐसा भी नियम है कि उसी दिन फीस दुगुनी कर दी जाती है, और किसी दूसरी तारीख को फीस दुगुनी न दो, तो नाम कट जाता है, काशी के क्वींस कालेज में यही नियम था। ....एसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि गरीबों के लड़के स्कूल छोड़ कर भाग जाएँ। वही हृदयहीन दफ़्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे विद्यालयों में भी है। वह किसी के साथ रियायत नहीं करता, चाहे जहाँ से लाओ, कर्ज लो, गहने गिरो रखो, लोटा थाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जायगा। जमीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रियायत की जाती है। हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल ला का व्यवहार होता है। देर में आइए तो जुर्माना, न आइए तो जुर्माना, सबक याद न हो तो जुर्माना, किताबें न खरीद सकिए तो जुर्माना, कोई अपराध हो जाय तो जुर्माना, शिक्षालय क्या हैं जुर्मानालय हैं। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बाँधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों में पैसे पर जान देनेवाले, पैसे के लिये गरीबों का गला काटनेवाले, पैसे के लिये अपने आत्मा तक बेच देनेवाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या ?"[१] प्रेमचन्द छात्रों पर होनेवाले जुर्माने के पक्ष में नहीं थे। जुर्माना करने की पद्धति भी पश्चिम से ही आई जिसने इस निर्धन देश की पहले से ही मँहगी शिक्षा को और मँहगी बना दिया। इन बातों का विद्यार्थी के मन पर क्या असर पड़ता है, इस बात को प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि उन्होंने स्वयं एक निर्धन विद्यार्थी का जीवन बिताया था। और जब 'कायाकल्प' में मनोरमा से चक्रधर कहता है, "हमारी शिक्षा ने हमें पशु बना दिया है।"[२] तो पाश्चात्य शिक्षा और उस पद्धति की निस्सारता व्यक्त करने की हद हो जाती है।

✓। 'प्रेमाश्रम' के प्रारम्भ में ग्रामीणों के मुख से प्रेमचंद आधुनिक विद्या पर व्यंग्य करवाते हुए लिखते हैं, दुखरन कहता है, "कहते हैं कि विद्या से आदमी की बुद्धि ठीक हो जाती है, पर यहाँ उल्टा ही देखने में आता है। यह हाकिम और अमले पढ़े-लिखे विद्वान होते हैं, लेकिन किसी को दया धर्म का विचार नहीं होता।"[३] मनोहर

---

१. कर्मभूमि—पृष्ठ ५
२. कायाकल्प—,, १२३
३. प्रेमाश्रम—,, २

का यह व्यंग्य कि "विद्या से और कुछ नहीं होता तो दूसरों का धन ऐंठना तो आजाता है। मूरख रहने से तो अपना धन गँवाना पड़ता है।"[1] आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की वास्तविकता को भलीभाँति प्रकट कर देता है।

अब यह देखना है कि प्रेमचन्द किस प्रकार की शिक्षा और शैक्षणिक संस्था पसंद करते थे। उनके शिक्षासंबंधी उद्देश्य को देखते हुए यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि वे शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण को प्रमुखता देते हैं। शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के सामने चाहे कोई लिखित रूप न रहा हो, किन्तु उसकी झलक उसके उपन्यासों में मिलती ही है। उपन्यास के अन्तर्गत इससे अधिक और व्याख्या सम्भव भी नहीं हो सकती। प्रेमचन्द ने जो कुछ भी इस सम्बन्ध में जगह-जगह लिखा है वह औपन्यासिक कला की उपेक्षा करके ही लिखा है, क्योंकि वे कलावादी उपन्यासकार नहीं थे, वे समस्याओं को प्रधानता देकर ही उपन्यासों का सर्जन करते थे।

'कर्मभूमि' में डा. शांतिकुमार के बँगले में प्रेमचंद एक पाठशाला लगवाते हैं, जहाँ, "फीस विलकुल न ली जाती थी।...छोटे-छोटे भोले-भाले निष्कपट बालकों का कैसे स्वभाविक विकास हो, कैसे वे साहसी, सन्तोषी सेवाशील बन सकें, यही मुख्य उद्देश्य था। सौंदर्य बोध जो मानव प्रकृति का प्रधान अंग है, कैसे दूषित वातावरण से अलग रह कर अपनी पूर्णता पाये, संघर्ष की जगह सहानुभूति का विकास कैसे हो, दोनों मित्र यही सोचते थे। उनके शिक्षा की कोई बनी बनाई प्रणाली न थी। उद्देश्य को सामने रखकर ही वह साधनों की व्यवस्था करते थे। आदर्श महापुरुषों के चरित्र, सेवा और त्याग की कथाएँ, भक्ति और प्रेम के पद, यही शिक्षा के आधार थे।"[2] इस पाठशाला को अरमकांत डा. शांतिकुमार, संन्यासी आत्मानंद, संगीताचार्य ब्रजनाथ आदि जी जान से एक आदर्श संस्था बनाने में जुट जाते हैं। तरह-तरह के लोग इस नवजात संस्था और उनके कार्यकर्ताओं की तरह-तरह से आलोचना करते हैं। कोई इसे "मदारी का तमाशा"[3] कहता है तो कोई कुछ। आर्थिक कठिनाइयाँ अलग हैं। पर फिर भी अपने आदर्शों पर अविचल विश्वास के साथ पाठशाला के संस्थापक तथा कार्यकर्ता पाठशाला का विकास करते चले जाते हैं और प्रेमचन्द इस संस्था को आगे चलकर अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप विकसित करके दिखाते हैं, "अमर की शाला अब नई इमारत में आ गई थी। शिक्षा का लोगों को कुछ ऐसा चस्का पड़ गया था, कि जवान तो

---

१. 'कर्मभूमि' पृष्ठ ३
२. " " ६
३. " " १११

जवान, बूढ़े भी आ बैठते और कुछ न कुछ सीख जाते। अमर की शिक्षा शैली आलोचनात्मक थी। अन्य देशों की सामाजिक और राजनैतिक प्रगति, नये-नये आविष्कार, नये नये विचार, इसके मुख्य विषय थे। देश देशान्तरों के रस्मो-रिवाज, आचार-विचार की कथा सभी चाव से सुनते। उसे यह देखकर कभी-कभी विस्मय होता था कि वे निरक्षर लोग जटिल सामाजिक सिद्धान्तों को कितनी आसानी से समझ जाते हैं। सारे गाँव में एक नया जीवन प्रवाहित होता हुआ जान पड़ता था। छूतछात का जैसे लोप हो गया था। दूसरे गाँव के ऊँची जातियों के लोग भी अक्सर आ जाते थे।"[१]

उपर्युक्त विवेचन में पाठ्यक्रम-सम्बन्धी अनेक बातें स्वतः आ जाती हैं। यहाँ प्रेमचन्द का शिक्षा-संबन्धी स्वप्न साकार हो उठा है। उनके विचार कितने प्रगतिशील हैं तथा उनका दृष्टिकोण कितना व्यापक है आदि बातें उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जा ती है। उक्त संस्था में छूआछूत का नाम भी नहीं है, जब कि अन्य शालाओं में 'हरिजनों' के साथ अमानवीय व्यवहार होता था। प्रेमचंद ने समाज-विरोधी तत्वों के विरुद्ध अपने उपन्यासों में जगह-जगह लिखा, तभी उनकी वे कृतियाँ आज युग-दर्पण का काम देती हैं।

प्रेमचन्द धर्मविहीन शिक्षा के विरोधी थे। पाश्चात्य शिक्षा भौतिक विकास के उद्देश्य को अपना लक्ष्य मानकर चलती है, आत्मिक विकास के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। प्रेमचंद भौतिक और आत्मिक दोनों तत्वों से युक्त शिक्षा के समर्थक थे। एकांगी शिक्षा ग्रहण से एकांगी विकास ही सम्भव है। यह भौतिक दिशा में एकांगी विकास मनुष्य को स्वार्थी बना देता है। 'प्रेमाश्रम' में रायसाहब ज्ञानशंकर से कहते हैं, "यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्मविहीन शिक्षा का दोष है। तुम्हें आदि से ही भौतिक शिक्षा मिली है। हृदय के भाव दब गये। तुम्हारे गुरुजन स्वयं स्वार्थ के पुतले थे। उन्होंने कभी सरल सन्तोषमय जीवन का आदर्श तुम्हारे सामने नहीं रखा। तुम अपने घर में, स्कूल में, जगत में, नित्य देखते थे कि बुद्धिबल का कितना मान है। तुमने सदैव इनाम और पदक पाये, कक्षा में तुम्हारी प्रशंसा होती रही, प्रत्येक अवसर पर तुम्हें आदर्श बनाकर दूसरों को दिखाया जाता था। तुम्हारे आत्मिक विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, तुम्हारे मनोगत भावों को, तुम्हारे उद्गारों को सन्मार्ग पर ले जाने की चेष्टा नहीं की गई, तुमने धर्म और भक्ति का प्रकाश कभी नहीं देखा, जो मन पर छाये हुए तिमिर को नष्ट करने का एक साधन है। तुम जो कुछ हो अपनी शिक्षा प्रणाली के बनाये हुए हो।"[२]

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० १७६-१८०

२. " " ४३४-४३५

प्रेमचन्द ने शिक्षा का महत्व प्रारम्भ से ही भलीभाँति समझ लिया था। शिक्षा किसी भी समाज की मनोवृत्तियों की आधार होती है, उसकी उपेक्षा आगे चलकर बड़ा कड़वा फल देती है। उपेक्षा के अतिरिक्त गलत ढंग की नई पीढ़ी को पथभ्रष्ट करके समाज को अधोगति की ओर ले जाती है। प्रेमचंद के शिक्षा-शास्त्री होने में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता। 'वरदान' जैसे प्रारम्भिक उपन्यास में ही हम उनको बाल-मनोविज्ञान के ज्ञाता के रूप में पाते हैं। बच्चों को शिक्षा किस ढंग से दी जाय उसका उल्लेख 'वरदान' में मिलता है। पुराने ढंग की शिक्षा-प्रणाली का अच्छा-खासा मजाक प्रताप, बिरजन और मुंशी जी के संवादों में निहित है, "प्रताप धीरे-धीरे कुछ हिचकिचाता, सकुचाता समीप आया। मुंशीजी ने पितृवत प्रेम से उसे गोद में बैठा लिया और पूछा, "तुम अभी कौन सी किताब पढ़ रहे थे ?"

प्रताप बोलने को ही था कि बिरजन बोल उठी, "बाबा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ थीं। क्यों बाबा ? क्या पहले चिड़ियाँ भी हमारी भाँति बातें करती थीं ?"

मुंशी जी मुस्कराकर बोले, "हाँ, वे खूब बोलती थीं।" अभी उनके मुँह से पूरी बात भी न निकलने पाई थी कि प्रताप जिसका संकोच अब गायब हो चला था, बोला, "नहीं बिरजन तुम्हें भुलाते हैं। ये कहानियाँ बनाई हुई हैं।" मुंशी जी इस निर्भीकता पूर्ण खंडन पर खूब हँसे।

अब तो प्रताप तोते की भाँति चहकने लगा, "....गंगा जी का पानी नीला है। ऐसे जोर से बहता है कि बीच में पहाड़ भी हो, तो बह जाय। वहाँ साधु बाबा हैं। रेल दौड़ती है सन-सन। उसका इंजिन बोलता है "भक-भक"। इंजिन में भाप होती है, उसी के जोर से गाड़ी चलती है। गाड़ी के साथ पेड़ भी दौड़ते दिखाई देते हैं।

...बिरजन चित्र की भाँति चुपचाप बैठी हुई सुन रही थी। रेल पर वह भी दो तीन बार सवार हुई थी। परन्तु उसे आज तक यह न ज्ञात था कि उसे किसने बनाया और वह क्योंकर चलती है। दो बार उसने गुरुजी से यह प्रश्न किया था, परन्तु उन्होंने यही कह कर टाल दिया कि बच्चा, ईश्वर की महिमा अपरंपार है। बिरजन ने भी समझ रखा कि ईश्वर की महिमा कोई बड़ा भारी बलवान घोड़ा है, जो इतनी गाड़ियों को सन्-सन् खींचे लिये जाता है। जब प्रताप चुप हुआ तो बिरजन ने पिता के गले में हाथ डालकर कहा, "बाबा, हम भी प्रताप की किताब पढ़ेंगे।"

मुंशी—बेटी, तुम तो संस्कृत पढ़ती हो, यह भाषा है।

बिरजन—तो मैं भाषा ही पढ़ूँगी। इसमें कैसी अच्छी-अच्छी कहानियाँ

हैं। मेरी किताब में तो एक भी कहानी नहीं। क्यों बाबा, पढ़ना किसे कहते हैं ?"

मुंशीजी बगलें झाँकने लगे। इन्होंने आज तक आप ही कभी ध्यान नहीं दिया था कि पढ़ना क्या वस्तु है ? अभी वे माथा ही खुजला रहे थे कि प्रताप बोल उठा, "मुझे तुमने पढ़ते देखा, उसी को पढ़ना कहते हैं।"

बिरजन, "क्या मैं नहीं पढ़ती ? मेरे पढ़ने को पढ़ना नहीं कहते ?"

विरजन 'सिद्धान्त-कौमुदी' पढ़ रही थी। प्रताप ने कहा, "तुम तोते की भाँति रटती हो।"[1]

ये सभी बातें प्रेमचन्द के व्यावहारिक ज्ञान की परिचायक हैं। असाधारण बालकों के मनोविज्ञान पर भी प्रेमचन्द लिखते हैं, "साक्षियों के बयान और वकीलों की सूक्ष्म आलोचनाओं के तत्व को समझना इतना कठिन नहीं है, जितना किसी निरुत्साही लड़के के मन में शिक्षा की रुचि उत्पन्न करना।"[2]

प्रेमचन्द विद्यार्थियों को मात्र पाठ्य-पुस्तकों का कीड़ा बना देना नहीं चाहते। वे उनको समाज के विस्तृत क्षेत्र में भी ले जाते हैं। 'वरदान' में वे लिखते हैं, "प्रतापचन्द उन विद्यार्थियों में से न था, जिनका सारा उद्योग वक्तृता और पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। उसके समय और योग्यता का एक छोटा भाग जनता के लाभार्थ भी व्यक्त होता था। बहुधा संध्या समय वह कीडगंज और कटरा की दुर्गन्धिपूर्ण गलियों में घूमता दिखाई देता, जहाँ विशेषकर नीच जाति के लोग बसते हैं। जिन लोगों की परछाईं से उच्च वर्ण का हिन्दू भागता है, उसके साथ प्रताप टूटी खाट पर बैठकर घंटों बातें करता।"[3] 'रंगभूमि' में भी विनय की मृत्यु पर जाह्नवी यह घोषणा करती है, "बाल बच्चों वालों से मेरा निवेदन है,अपने प्यारे बच्चों को चक्की का बैल न बनाओ, गृहस्थी का गुलाम न बनाना। ऐसी शिक्षा दो कि जिएँ, किन्तु जीवन के दास बनकर नहीं, स्वामी बनकर।"[4] प्रेमशंकर के शब्दों में, "शिक्षा का फल यह होना चाहिए कि तुम बिरादरी के सूत्रधार बनो, उसको सुधारने का प्रयास करो, न यह कि उसके दबाव से अपने सिद्धान्तों का भी बलिदान कर दो।"[5]

'दान' की चर्चा आजकल बहुत है। आचार्य बिनोवा भावे ने सम्पूर्ण देश में जिस मनोवृत्ति का प्रसार किया है उसका संकेत प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि'

---

१. वरदान—पृ० १२-१३
२. ,, ,, २७
३. वरदान— ,, १०६
४. रंगभूमि (भाग २)—पृष्ठ ३८५
५. प्रेमाश्रम ,, १६६

में भी विद्यमान है। रेणुका अपनी पुत्री सुखदा से कहती है, "मंदिर तो यों ही हो रहे हैं, कि पूजा करनेवाले नहीं मिलते। शिक्षादान महादान है।"[१] 'शिक्षा दान महादान' का नारा लगाने वाले प्रेमचंद यदि आज जीवित होते तो 'भूदान" की तरह शिक्षा-दान भी देश की नींव सुदृढ़ करने में कितनी बड़ी भूमिका अदा करता, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. कर्मभूमि पृ० २३८

औद्योगिक समस्या

औद्योगिक समस्या को प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' और 'गोदान' में उठाया है। 'रंगभूमि' के प्रमुख उद्योगपति जॉन सेवक हैं तथा 'गोदान' के मिस्टर चन्द्रप्रकाश खन्ना। एक तम्बाकू का कारखाना खोलते हैं तो दूसरे की शक्कर की मिल है। प्रेमचंद ने अपने इन दो उपन्यासों में उद्योगपतियों की योजनाओं उनके पीछे औद्योगिक नैतिकता तथा औद्योगीकरण के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है।

इस स्थल पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या प्रेमचंद औद्योगीकरण के विरोधी थे ? जमीन पर से एकाधिकार उठता देखकर अधिकांश पूँजीपतियों ने जगह-जगह बड़े-बड़े कारखाने खोलने प्रारम्भ किए। जिससे उनकी पूँजी सुरक्षित रह सके और समस्त आधुनिक साधनों के माध्यम से वे मजदूरों का शोषण करके अधिक से अधिक मुनाफा बना सकें। औद्योगीकरण के पीछे मुनाफे का दृष्टिकोण प्रमुख है। प्रेमचंद इसी पूँजीवादी औद्योगीकरण के विरोधी थे; जिसमें मानवीय मूल्यों का कोई स्थान नहीं दिया जाता। 'रंगभूमि' और 'गोदान' में तम्बाकू और शक्कर के कारखानों को प्रतीक मानकर पूँजीशाही मनोवृति को प्रेमचंद ने हमारे सामने रखा है और यह बताया है कि ऐसे औद्योगीकरण से जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे तो प्रेमचंद ने शोषण का एक नया हथियार ही बताया है, तथा जिसके परिणाम कोई कम भयावह नहीं हैं। किसानों और मजदूरों का शोषण ज्यों का त्यों बना रहता है। अतः प्रेमचंद उद्योगों और औद्योगीकरण के विरोधी नहीं थे; पूँजीशाही औद्योगिक प्रकृति के कट्टर विरोधी थे। तम्बाकू और शक्कर के उपर्युक्त कारखानों के माध्यम से उन्होंने पूँजीशाही-वर्ग का नग्न-चित्रण करके उनकी मनोवृत्तियों के प्रति घृणा को जन्म दिया है। जॉन सेवक के कारनामों के प्रति पाठक क्रोध से भर उठता है। मिस्टर खन्ना भी पाठक की सहानुभूति उस समय तक प्राप्त नहीं करते जब तक उनकी शक्कर मिल तबाह नहीं हो जाती। अभिप्राय यह है कि प्रेमचंद ने औद्योगीकरण के अथवा पूँजीशाही व्यक्तियों के विरुद्ध न लिख कर वर्तमान औद्योगिक-व्यवस्था के विरोध में लिखा है।

आधुनिक सभ्यता का आधार धन है। धनिक अपनी इच्छापूर्ति आज सहज ही कर सकता है। समस्त शासकीय मशीनरी को उसने पैसों के बल अपने वश में कर रखा है। 'रंगभूमि' में जांन सेवक कहता है, "यह व्यापार राज्य का युग है। योरप के बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजीपतियों के इशारों पर बनते बिगड़ते हैं, किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं कि उनकी इच्छा का विरोध करे। तुमने मुझे समझा क्या है, मैं वह नरम चारा नहीं हूँ, जिसे क्लार्क और महेन्द्र खा जायेंगे।"[१] अतः पूँजीपति-वर्ग मानवीय मूल्यों को धता बताकर मनमानी योजनायें तैयार करता है और जनता को अपार कष्ट पहुँचाकर उन योजनाओं को फलीभूत होते देखने के प्रयत्न करता है, जिसमें उसे सफलता भी मिलती है। 'रंगभूमि' में जॉन सेवक तम्बाकू का कारखाना खोलने के लिए भूमिका तैयार करता हुआ कहता है, "मेरा इरादा है म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिलकर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दुकान खुलवा दूँ। तब आस-पास के चमार यहाँ रोज आएँगे, और आपको उनसे मेल-जोल पैदा करने का अवसर मिलेगा।"[२] नगर के हितों की रक्षा करने वाली संस्थाओं को ये पूँजीपति मानों अपनी जेबी संस्था समझते हैं। धन के बल पर खेतों में गेहूँ-जौ के स्थान पर तम्बाकू की खेती करवा लेना भी उनके लिए साधारण बात है। तम्बाकू की खेती के प्रश्न पर जॉन सेवक पूर्ण विश्वास के साथ कहता है, "कच्चा माल पैदा करना हमारा काम होगा। किसान को ऊख या जौं-गेंहूँ से कोई प्रेम नहीं होता। वह जिसके पैदा करने में अपना लाभ देखेगा, वही पैदा करेगा।"[३]इस स्थल पर प्रेमचंद ने उद्योगपतियों की नैतिकता पर तीव्र प्रहार किए हैं। कुँअर साहब और जॉन सेवक का निम्नलिखित वार्तालाप प्रेमचंद के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। जान सेवक निजी स्वार्थ और मुनाफे की कामना की आड़ में भला बनकर कहता है, "हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हजार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जायगी, और खेती के सिर से उनका बोझ टल जायगा। जितनी जमीन एक आदमी अच्छी तरह जोत बो सकता है, उसमें घर भर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारों को अपनी रोटी कमाने का अवसर देगा।"....

कुँअर साहब—"लेकिन तम्बाकू कोई अच्छी चीज तो नहीं। इसकी गणना मादक वस्तुओं में है, और स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है।"

जॉन सेवक—"(हँस कर) ये सब डाक्टरों की कोरी कल्पानाएँ हैं। जिन

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ ३५२
२. वही „ १४
३. „ „ १६

पर गम्भीर विचार करना हास्यास्पद है। डाक्टरों के आदेशानुसार हम जीवन व्यतीत करना चाहें, तो जीवन का अंत ही हो जाय।...व्यवसायी लोग इन गोरखधंधों में नहीं पड़ते; उनका लक्ष्य केवल वर्तमान परिस्थितियों पर रहता है। हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रुपये के सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इस धन प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बगैर हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।"[1] व्यवसायी लोग इन गोरखधंधों में नहीं पड़ते, यह लिखकर प्रेमचंद में आधुनिक औद्योगिक समाज की मनोवृत्ति का परिचय दे दिया है। तम्बाकू का कारखाना खोलने के पक्ष में जॉन सेवक ने जो दलीलें दी थीं उनका कुँअर साहब पर असर पड़ता है और वे ५०० हिस्से लेने का वचन देते हैं। यहाँ प्रेमचंद ने ऐसे बनावटी देशभक्तों पर भी व्यंग्यात्मक छींटे मारे हैं, "तुमने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए यह प्रयत्न किया है। देश के सेवक बनकर तुम अपनी पाँचों उँगलियाँ घी में रखना चाहते हो। तुम्हारा मनोवांछित उद्देश्य यही है कि नफे का बड़ा भाग किसी न किसी हीले से आप हजम करो। तुमने इस लोकोक्ति को प्रमाणित कर दिया कि बनिया मारे जान, चोर मारे अनजान।"[2] ढोंगी ईश्वर -भक्त ईश्वर-सेवक जॉन सेवक का समर्थन करता हुआ कहता है, "खुदा मुझ पर दया दृष्टि करे। बेटा, रंग मिलाये बगैर भी दुनिया का कोई काम चलता है? सफलता का यही मूलमंत्र है, और व्यवसाय की सफलता के लिए तो यह सर्वथा अनिवार्य है।"[3] प्रभु सेवक के मुख से प्रेमचंद आधुनिक व्यावसायिक मनोवृत्ति की तीव्र भर्त्सना करते हुए लिखते हैं, "व्यवसाय कुछ नहीं है, अगर नर हत्या नहीं है। आदि से अन्त तक मनुष्यों को पशु समझना और उनसे पशुवत व्यवहार करता इसका मूल सिद्धान्त है। जो यह नहीं कर सकता, वह सफल व्यवसायी नहीं हो सकता।"[4]

इस प्रकार प्रेमचंद ने 'औद्योगिक नैतिकता' का विस्तृत वर्णन करके उद्योग-पतियों की मनोवृत्तियों के विरुद्ध जनमत तैयार किया है। देश के औद्योगीकरण में जब इसप्रकार के लोग कार्य कर रहे हैं तब उससे साधारण जनता और देश को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।

उधर 'गोदान' में मिस्टर चंद्रप्रकाश खन्ना को एक बैंक के मैनेजर और शक्कर मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। शक्कर मिल के जल जाने पर मि० खन्ना स्वयं अपनी नैतिकता को उघार कर हमारे सामने रखते हैं, "आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है।

१. रंगभूमि (भाग १) पृ० ७६-८०
२. रंगभूमि (भाग १) ,, ८४
३. वही (,, १) ,, १८१
४. ,, (,, २) ,, १८०

कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तोलने के लिए, कैसे आदमी रखे, जैसे नकली बाट रखे।"[१] मिल के पीछे कौन-सा अर्थशास्त्र कार्य कर रहा था उसका परिचय देते हुए मि० खन्ना कहते हैं, "हमारी नियमावली देखिए, हम पूर्ण सहकारिता के सिद्धान्त पर काम करते हैं। दफ्तर और कर्मचारियों के खर्च के सिवा नफे की एक पाई भी किसी की जेब में नहीं जाती। आपको आश्चर्य होगा कि इस नीति से कम्पनी कैसे चल रही है। और मेरी सलाह से थोड़ा सा स्पेकुलेशन का काम भी शुरू कर दीजिए। यह जो आज सैकड़ों करोड़पति बने हुए हैं, सब इसी स्पेकुलेशन से बने हैं। रुई, शक्कर, गेहूँ, रबर किसी जिन्स का सट्टा कीजिए। मिनटों में लाखों का वारा न्यारा होता है।"[२] अधिक से अधिक मुनाफे की मनोवृत्ति की निंदा करते हुए मेहता मि० खन्ना से कहते हैं, "क्या आपका विचार है कि मजूरों को इतनी मजूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से मज़दूरों को कष्ट न होगा। आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गंदे, बदबूदार बिलों में, जहाँ आप एक मिनिट भी रह जायँ, तो आपको कै आ जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं।"[३] और प्रेमचंद ने बतलाया कि अनीति पर खड़ा औद्योगिक संस्कृति का प्रतीक यह मिल भस्मीभूत हो जाता है, "उस अग्नि समुद्र के नीचे ऐसा धुँआ छाया था, मानों सावन की घटा कालिख में नहाकर नीचे उतर आयी हो। उसके ऊपर जैसे आग का थरथराता हुआ, उबलता हुआ, हिमाचल खड़ा था। हाते में लाखों आदमियों की भीड़ थी पुलिस भी थी, फायर ब्रिगेट भी, सेवा समितियों के सेवक भी; पर सबके सब आग की भीषणता से मानों शिथिल हो गए हों। फायर ब्रिगेड के छींटे उस अग्नि सागर में जाकर जैसे बुझ जाते थे। ईंटें जल रही थीं, लोहे के गर्डर जल रहे थे और पिघली हुई शक्कर के परनाले चारों तरफ बह रहे थे। और तो और जमीन से भी ज्वाला निकल रही थी।"[४] 'रंगभूमि' में जहाँ किसानों की जमीन छिनती है और उनके मकान ढहा दिए जाते हैं वहाँ 'गोदान' में प्रेमचंद मिल को धू-धू जलती हुई चित्रित करते हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति के अवश्यंभावी विनाश का विश्वास है। मजदूरों का संघर्ष जैसे-जैसे तीव्र होता जाएगा वैसे-वैसे आधुनिक सभ्यता के अंग पूँजीपति या आत्म-समर्पण पर देंगे अथवा समाप्त हो जाएँगे।

---

१. गोदान पृष्ठ ६५
२. वही ,, १२०
३. वही ,, ३६०
४. वही ,, ३६३

औद्योगीकरण का विरोध प्रेमचंद ने एक और दृष्टिकोण से भी किया है। प्रेमचंद चारित्रिक आदर्श पर विश्वास रखते थे। वे मजदूरों का नैतिक स्तर ऊँचा देखना चाहते थे। औद्योगीकरण मजदूरों के नैतिक स्तर को उठाने में कोई सहायता नहीं देता वरन् उसे दिन-पर-दिन गिराने का षड्यन्त्र रचता है; जिससे मजदूर वर्ग शराब, व्यभिचारादि दुर्गुणों में फँसा रहे। उसमें नैतिक ज्वाला का प्रवेश न हो; अन्यथा वह अपने शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर बैठेगा और पूँजीपतियों के मुनाफे को भारी चोट पहुँचेगी। ये विचार प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में सूरदास के माध्यम से व्यक्त किए हैं। सूरदास नायकराम से कहता है, "मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी तहाँ ताड़ी-शराब का परचार भी तो बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेसी आदमी हमारी बहू बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे, और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलायेंगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी। भगवान न करें यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाएँ।"[1] और जब फैक्टरी लगभग तैयार हो जाती है तब जो आशंका सूरदास ने व्यक्त की थी वह सत्य प्रमाणित होती है। इन्द्रदत्त से सूरदास कहता है, "साहब, आप पुतलीघर के मजूरों के लिए घर क्यों नहीं बनवा देते? वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं, और रोज ऊधम मचाते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुई थीं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न सराबियों का ऐसा हुल्लड़ रहा। जब तक मजूर लोग यहाँ काम पर नहीं आते, औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती। किसी को समझाओ, तो लड़ने पर उतारू हो जाता है।"[2] ये सामाजिक दुर्गुण भी औद्योगीकरण के साथ-साथ स्वतः आते हैं जिनके पीछे आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था ही उत्तरदायी है।

औद्योगीकरण के सम्बन्ध में अप्रासंगिक रूप से 'प्रेमाश्रम' में भी चर्चा मिलती है। राय साहब से किसी कम्पनी का प्रतिनिधि हिस्से लेने का अनुरोध करता है। यहाँ प्रेमचंद राय साहब की उस एजेंट के वार्तालाप को सप्रयोजन प्रस्तुत करते हैं और औद्योगीकरण पर अपने विचार तार्किक ढंग से उपस्थित करते हैं:—

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृ० १३१-१३२

२. „ („ १) „ १६७-१६८

"एजेन्ट जब आप जैसे विचारशील सज्जन व्यापारिक उद्योग से पृथक रहेंगे तो इस अभागे देश की उन्नति सदैव एक मनोहर स्वप्न ही रहेगी।

रायसाहब—मैं ऐसी व्यापारिक संस्थाओं को देशोद्धार की कुंजी नहीं समझता।......आपकी यह कम्पनी धनवानों को और धनवान बनायेगी, जनता को इससे बहुत लाभ पहुँचने की सम्भावना नहीं। निस्सन्देह आप कई हजार कुलियों को काम में लगा देंगे, पर यह मजूर अधिकांश किसान ही होंगे और मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ। मैं नहीं चाहता कि वह लोभ के वश अपने बाल-बच्चों को छोड़ कर कम्पनी की छावनियोंमें जाकर रहें और अपना आचरण भ्रष्ट करें। अपने गाँव में उनकी एक विशेष स्थिति होती है। उनमें आत्मप्रतिष्ठा का भाव जाग्रत रहता है। बिरादरी का भय उन्हें कुमार्ग से बचाता है। कम्पनी की शरण में जाकर वह अपने घर के स्वामी नहीं, दूसरे के गुलाम हो जाते हैं, और बिरादरी के बन्धनों से मुक्त होकर नाना प्रकार की बुराइयाँ करने लगते हैं। कम से कम मैं अपने किसानों को इस परीक्षा में डालना नहीं चाहता।

एजेन्ट—क्षमा कीजियेगा, आपने एक ही पक्ष का चित्र खींचा है। कृपा करके दूसरे पक्ष का भी अवलोकन कीजिये। हम कुलियों को जैसे वस्त्र, जैसा भोजन, जैसे घर देते हैं, वैसे गाँव में रहकर उन्हें कभी नसीब नहीं हो सकते। हम उनकी दवा दारू का, उनकी सन्तानों की शिक्षा का, उन्हें बुढ़ापे में सहारा देने का उचित प्रबन्ध करते हैं। यहाँ तक कि हम उनके मनोरंजन और व्यायाम की भी व्यवस्था कर देते हैं। वह चाहें तो टेनिस-फुटबाल खेल सकते हैं। चाहें तो पार्कों में सैर कर सकते हैं। सप्ताह में एक दिन गाने बजाने के लिये समय से कुछ पहले ही छुट्टी दे दी जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि पार्कों में रहने के बाद कोई कुली फिर खेती करने की परवा न करेगा।

रायसाहब—नहीं, मैं इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। किसान कुली बनकर कभी अपने भाग्य-विधाता को धन्यवाद नहीं दे सकता, उसी प्रकार जैसे कोई आदमी व्यापार का स्वतन्त्र सुख भोगने के बाद नौकरी की पराधीनता को पसन्द नहीं कर सकता। सम्भव है, कि अपनी दीनता उसे कुली बने रहने पर मजबूर करे पर मुझे विश्वास है कि वह इस दासता से मुक्त होने का अवसर पाते ही तुरन्त अपने घर की राह लेगा और फिर उसी टूटे-फूटे झोंपड़े में अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर सन्तोष के साथ कालक्षेप करेगा। आपको इसमें सन्देह हो तो आप कृषक कुलियों से एकान्त में पूछकर अपना समाधान कर सकते हैं। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह बात कहता हूँ कि आप लोग इस विषय में योरोप-वालों का अनुकरण करके हमारे जातीय जीवन के गुणों का सर्वनाश कर रहे हैं। योरोप में Industrialism की जो उन्नति हुई उसके विशेष कारण हैं।

वहाँ के किसानों की दशा उस समय गुलामों से भी गयी गुजरी थी, वह जमींदार के बन्दी होते थे। इस कठिन कारावास के देखते हुए धनपतियों की कैद गनीमत थी। हमारे किसानों की आर्थिक दशा चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो, पर वह किसी के गुलाम नहीं हैं। अगर कोई उनपर अत्याचार करे तो वह अदालतों में उससे मुक्त हो सकते हैं। नीति की दृष्टि में किसान और जमींदार दोनों बराबर हैं।"[1]

प्रेमचंद घरेलूधन्धों के पक्षपाती थे। नवीन औद्योगीकरण से घरेलू उद्योग-धंधे पनप नहीं सकते, अतः उन्हें सुरक्षा दी जानी चाहिये। ऐसा करने से देश और जनता को लाभ हो सकता है, जो आधुनिक औद्योगीकरण से असंभव है—

"उन्हें घर से निर्वासित करके दुर्व्यसन के जाल में न फँसाएँ, उनके आत्माभिमान का सर्वनाश न करें और यह उसी दशा में हो सकता है जब घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाय और वह अपने गाँव में कुछ और बिरादरी की तीव्र दृष्टि के सम्मुख अपना-अपना काम करते रहें।

एजेन्ट—आपका अभिप्राय Cottage industry से है। समाचार-पत्रों में कहीं कहीं इसकी चर्चा भी हो रही है। किन्तु इसका सबसे बड़ा पक्षपाती भी यह दावा नहीं कर सकता कि इसके द्वारा आप विदेशों का सफलता के साथ अवरोध कर सकते हैं।

रायसाहब—इसके लिये हमें विदेशी वस्तुओं पर कर लगाना पड़ेगा। योरोपवाले दूसरे देशों से कच्चा माल ले जाते हैं, जहाज किराया देते हैं, उन्हें मजूरों को कड़ी मजूरी देनी पड़ती है, उस पर हिस्सेदारों को नफा भी खूब चाहिए। हमारा घरेलू शिल्प इन समस्त बाधाओं से मुक्त रहेगा और कोई कारण नहीं कि उचित संगठन के साथ वह विदेशी व्यापार पर विजय न पा सके। वास्तव में हमने कभी इस प्रश्न पर ध्यान नहीं दिया। पूँजी वाले लोग इस समस्या पर विचार करते हुए डरते हैं। वे जानते हैं कि घरेलू शिल्प हमारे प्रभुत्व का अन्त कर देगा। इसीलिए वह इसका विरोध करते हैं।"[2]

इस प्रकार प्रेमचंद अपने उपन्यासों की विशाल पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, जिससे देश की अनेक समस्याओं का उसमें समावेश हो सके। उपन्यासों के माध्यम से बड़े सरल ढंग से उन्होंने गम्भीर प्रश्नों की विवेचना की है तथा उनका व्यावहारिक रूप दिखाकर समाज को उचित मार्ग खोजने के लिए सचेत किया है।

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० १२४-५-६
२. वही „ १२७-१२८

ग्रामीण-जीवन (किसान-वर्ग की समस्याएँ)

प्रेमचंद का जन्म 'लमही' गाँव में हुआ था। उनकी सरकारी नौकरी का क्षेत्र भी ग्रामीण प्रदेश रहा; क्योंकि आप शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर थे, अतः गाँव-गाँव दौरा करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त ग्रामीण-जीवन के प्रति प्रेमचंद के हृदय में अपार प्रेम था। ग्रामीण-जनता और उसकी विविध समस्याओं से प्रेमचंद का अत्यधिक निकट सम्पर्क था। वे किसान-वर्ग के मनोविज्ञान से भली-भाँति परिचित थे। कहना न होगा कि यह सब ग्रामीण-जनता के सम्पर्क में आने का परिणाम है। यही कारण है कि प्रेमचंद अपने उपन्यासों में ग्रामीण-जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण कर सके हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके पीछे उनका अनुभव निहित है; इसलिए उसकी सचाई बरबस पाठक को आकर्षित कर लेती है। आज के छोटे-बड़े अनेक नेता किसानों के पक्षपाती होने का ढोंग रचते हैं, पर किसानों के जीवन से उनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। प्रेमचंद ने ऐसे नेताओं की ओर 'कायाकल्प' में संकेत किया है। चक्रधर कहता है, "हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती।"[1] किसानों के प्रति प्रेमचंद ने कोरी बौद्धिक सहानुभूति ही प्रदर्शित नहीं की है वरन् बड़े ही यथार्थ ढंग से उसकी दुर्बलताओं, विशेषताओं और समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उनके अनेक उपन्यासों में प्रस्तुत समस्या का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ से ही वे गाँवों को दृष्टि में रखकर उपन्यास लिखते हैं और 'गोदान' तक आते-आते उनकी दृष्टि ग्रामीण जीवन के प्रत्येक पहलू पर अच्छी तरह से प्रकाश डाल देती है। किसानों के जीवन से सम्बन्धित उनके निम्नलिखित उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'वरदान', 'सेवासंदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', और 'गोदान'।

ग्रामीण जीवन की व्याख्या के लिए उसके निम्नलिखित विधान किए जा सकते हैं :—

---

१. कायाकल्प—पृ० २५३

१. व्यक्ति किसान,
२. उसकी आर्थिक स्थिति,
३. उसके शोषक,
४. भारत का नया किसान और
५. किसान की समस्याओं के निराकरण का मार्ग।

जहाँ तक व्यक्ति किसान का सम्बन्ध है प्रेमचंद ने उसकी चारित्रिक विशेषताओं, उसके अंध-विश्वासों तथा उसकी दुर्बलताओं पर स्पष्ट रूप से लिखा है। किसान गाँव के अन्य देहातियों से कोई पृथक संस्कृति नहीं रखता। वास्तव में वह ग्रामीण-जनता का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे यह भी स्पष्ट है कि ग्रामों में अधिकांश किसान ही रहते हैं: अतः जहाँ प्रेमचंद ने ग्रामीणों के जीवन का चित्रण किया है वह किसान-वर्ग से भी सम्बद्ध समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव को आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बनाती हैं। प्रेमचंद-कालीन किसानों जैसी मनोवृत्तियाँ आज के किसानों में भी पाई जायँ, यह कोई अनिवार्य नहीं।

भारतीय ग्रामीण-जनता अन्ध-विश्वासी होती है। प्राचीन संस्कारों से वह बुरी तरह ग्रस्त है। प्रेमचंद ने ग्रामीण-जनता के अंधविश्वासों का जगह-जगह वर्णन किया है। यथा—'वरदान' में 'कमला के नाम बिरजन के पत्र' शीर्षक से सत्रहवें परिच्छेद में—"हमारे घर के पिछवाड़े एक गड्ढा है...यहाँ किंवदन्ती है कि गड्ढे में चुड़ैलें नहाने आया करती हैं और वे अकारण राह चलने वालों से छेड़-छाड़ किया करती हैं। इसी प्रकार द्वार पर एक भारी पीपल का पेड़ है। वह भूतों का आवास है। .....पीपल का त्रास सारे गाँव के हृदय पर ऐसा छाया हुआ है कि सूर्यास्त ही से मार्ग बन्द हो जाता है।"[1] आदि विस्तृत वर्णन किया गया है।

'वरदान' प्रेमचंद जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है। वह कोई समस्यामूलक भी नहीं है; फिर भी प्रेमचंद ग्रामीण-जीवन का समावेश किसी-न-किसी प्रकार उसमें भी कर देते हैं। बिरजन के पत्रों में जहाँ प्रेम-चर्चा होनी चाहिए थी वहाँ यह रूखा वर्णन है। इस सबका अन्ततः क्या उद्देश्य है? कहना न होगा कि प्रेमचंद प्रारम्भ से ही ग्रामीण-जनता की ओर आकर्षित थे। वे उसमें सुधार देखना चाहते थे। गाँवों के अपने अनुभवों को उन्होंने अपनी कला-कृतियों में बड़ी स्वतंत्रता से व्यक्त किया है।

आगे चलकर 'रंगभूमि' में भी ग्रामीणों के अंध-विश्वासों का उल्लेख मिलता है। जैनब ग्रामीण स्त्रियों की इस दुर्बलता का लाभ उठाती हुई जमुना को डराती है। प्रेमचंद लिखते हैं, "अन्य स्त्रियों की भाँति वह भी थाना, पुलिस, कचहरी

---

१. वरदान—पृ० ८०

और दरबार की अपेक्षा भूत-पिचाशों से ज्यादा डरी रहती थी। पास-परोस में पिशाच-लीला देखने के अवसर आये-दिन मिलते ही रहते थे। मुल्लाओं के यंत्र-मंत्र कहीं ज्यादा लागू होते हैं, यह भी मानती थी। जैनब बेगम ने उसकी पिशाच भीरुता को लक्षित करके अपनी विषम चातुरी का परिचय दिया। जमुनी भयभीत होकर बोली, "नहीं बेगम साहब, आपको भी भगवान् ने बाल-बच्चे दिये हैं, ऐसा जुलुम न कीजिऐगा, नहीं तो मर जाऊँगी।"[1]

पूर्व जन्मवाद पर विश्वास भी एक अंध-विश्वास ही समझा जाता है। आधुनिक-शिक्षा-प्राप्त लोगों में पूर्व-जन्म पर विश्वास बहुत कम पाया जाता है, पर, ग्रामीण अपढ़ जनता तो शत-प्रतिशत पूर्वजन्मवाद की विश्वासी होती है। नगरों का आधुनिक शोषक-वर्ग पूर्वजन्म के सिद्धान्त की आड़ में, ग्रामीणों का शोषण और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए देखा जाता है। 'रंगभूमि' का सूरदास पूर्व-जन्म पर अटल आस्था रखता है। सुभागी उसके चोरी गए रुपयों का भेद उसे बता देती है; जिस पर सूरदास कहता है, "मेरे रुपये थे ही नहीं, शायद उस जन्म में मैंने गैरों के रुपये चुराए होंगे।"[2] इसी प्रकार 'गोदान' का होरी पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। अपने पुत्र गोबर से वह कहता है, "यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्व-जन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या?"[3]

जीवन के अनेक थपेड़ों ने, वास्तव में, ग्रामीण-जनता को भाग्यवादी और पूर्व-जन्म का विश्वासी बना दिया है। शताब्दियों से उनका शोषण हुआ है। जब-जब किसान ने सिर उठाया तब-तब उसे बुरी तरह कुचल दिया गया। किसान-वर्ग का असंगठित होना इसके पीछे प्रमुख कारण कहा जा सकता है। युगों के दमन-चक्र में पीसे किसान डरपोक हो गए हैं। जमींदार के पाँव तले गर्दन दबी होने के कारण वे अपने मानवोचित अधिकारों तक को माँग करने में डरते हैं। प्रेमचंद ने किसानों की इस डरपोक मनोवृत्ति का उल्लेख किया है। चारणों की तरह वे अपने 'उपास्य' की झूठी प्रशंसा नहीं करते। किसानों के प्रति उनके हृदय में जो अपार प्रेम और सहानुभूति है वह वास्तविकता को नहीं दबाती। 'गोदान' का होरी अनेक स्थलों पर अपनी डरपोक प्रवृत्ति का परिचय देता है। यथा, "यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृ० १७५
२. वही „ २०४
३. गोदान „ २२

आई ? किस पर कुड़की नहीं आयी ? जब दूसरों केपाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"[1]

"पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता।"[2]

अनेक अभावों और कष्टों के होते हुए भी भारतीय किसान का चरित्र उज्वल होता है; वह दगाबाज नहीं होता। प्रेमचंद उसकी खूबियों और स्वार्थी-मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए लिखते हैं—"किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घंटों चिरौरी करता है। जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता।"[3]
किसान की स्वार्थी-मनोवृत्ति के पीछे उसका शोषण और उस पर होने वाले अत्याचार हैं। जमींदारों के अमानवीय व्यवहार से वह त्रस्त है। जब कभी उसका सद्-मनुष्यों से सम्बन्ध आता है वह अपन स्वार्थ को भूल जाता है। 'कर्मभूमि' में समरकांत सलीम के अफसरी अभिमान पर हँसकर कहते हैं, "यह बचारे किसान ऐसे गरीब हैं कि थोड़ी-सी हमदर्दी करके उन्हें अपना गुलाम बना सकते हो। हुकूमत वह बहुत झेल चुके हैं। अब भलमानसी का बर्ताव चाहते हैं।"[4] प्रेमचंद को ग्रामीण-जीवन नागरिक-जीवन से अधिक प्रिय है। स्वार्थ-भावना के होते हुए भी जिस आत्मीयता के दर्शन ग्रामीण जनता में होते हैं वह नागरिक-जनता में दुर्लभ हैं। 'सेवासदन' में प्रेमचंद लिखते हैं:—"ग्रामीण-जीवन में एक प्रकार की ममता होती है जो नागरिक जीवन में नहीं पाई जाती। एक प्रकार का स्नेह-बन्धन होता है जो सब प्राणियों को, चाहे छोटे हों या बड़े, बाँधे रहता है।"[5]

गाँव के लोग शांतिप्रिय होते हैं। जहाँ तक होता है वे झगड़ों से दूर रहते हैं। 'गोदान' का 'होरी' झगड़े से बचने के लिए गम खा लेना श्रेयस्कर समझता है। प्रेमचंद लिखते हैं, "होरी की कृषक प्रवृत्ति झगड़े से भागती थी। चार बातें सुन कर गम खा जाना इससे कहीं अच्छा है कि आपस में तनाजा हो। कहीं मारपीट हो जाय, तो थाना-पुलिस हो, बँधे-बँधे फिरो, सबकी चिरौरी करो। अदालत की धूल फाँको, खेती बारी जहन्नुम में मिल जाय।"[6] इसी प्रकार 'रंगभूमि' में

---

१. वही— पृष्ठ ३
२. ,, ,, ३०२
३. ,, ,, ११
४. कर्मभूमि ,, २५२
५. सेवासदन ,, ६८
६. गोदान ,, ५६

प्रभु सेवक कहता है, "सूर्य को सिद्ध करने के लिए दीपक की जरूरत नहीं होती। देहाती लोग प्रायः बड़े शांतिप्रिय होते हैं। जब तक उन्हें भड़काया न जाय, लड़ाई दंगा नहीं करते। आपकी तरह उन्हें ईश्वर-भजन से रोटियाँ नहीं मिलतीं। सारे दिन सिर खपाते हैं, तब रोटियाँ नसीब होती हैं।"[१] कृषक की अभिलाषाएँ छोटी-छोटी होती हैं, पर वो भी पूरी नहीं हो पातीं। 'होरी' की अभिलाषा को प्रेमचंद ने कितने मार्मिक शब्दों में लिखा है, "होरी कदम बढ़ाये चला जाता है। पगडंडी के दोनों ओर ऊख के पौदों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा भगवान् कहीं गौं से बरखा करदे और डाँडी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लेगा। देसी गाय न तो दूध दें, न उनके बछवे ही किसी काम के हों। बहुत हुआ तो तेली के कोल्हू में चले। नहीं, वह पछांई गाय लेगा। उसकी खूब सेवा करेगा। कुछ नहीं तो चार-पाँच सेर दूध होगा। गोबर दूध के लिए तरस-तरस कर रह जाता है। इस उमिर में न खाया पिया, तो फिर कब खायेगा ? साल भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे। दो-सौ से कम में गोईं न होगी। फिर, गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ, तो क्या कहना। न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।"[२] और जब होरी की जीवन-लीला समाप्त होती है तब—"हीरा ने रोते हुए कहा, "भाभी, दिल कड़ा करो, गो-दान करादो, दादा चले।

धनिया ने उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देखा। अब वह दिल को और कितना कठोर करे ? अपने पति के प्रति उसका जो कर्म है, क्या यह उसको बताना पड़ेगा। जो जीवन का संगी था, उसके नाम को रोना ही क्या उसका धर्म है ?

और कई आवाजें आई—हाँ, गो-दान करा दो, अब यही समय है।

धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े मातादीन से बोली—महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।

और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।"[३]

इस प्रकार प्रेमचंद ने कृषक के स्वभाव और जीवन पर जगह-जगह बड़े मनोयोग से लिखा है।

किसान की आर्थिक स्थिति भी उनकी आँखों से ओझल नहीं रही। 'वरदान' के उसी 'कमला के नाम बिरजन के पत्र' शीर्षक के अन्तर्गत प्रेमचंद लिखते हैं,

---

४. रंगभूमि (भाग १)—पृ० २०६-२१०

१. गोदान „ ५

२. वही „ ४६०-४६१

"टूटे-फूटे फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें दुर्बल गायें, ...मनुष्यों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है ।...वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं । किसी के शरीर पर एक फटा वस्त्र नहीं है । और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं ।"[१]

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में भी जगह-जगह किसान-वर्ग की दयनीय दशा का चित्रण किया गया है :

(क) "सलीम बोला—मैं समझता था कि देहातियों के पास अनाज की बखारें भरी होंगी; लकिन यहाँ तो किसी घर में अनाज के मटके तक न थे ।.... और महाजन और अमले इन्हीं गरीबों को चूसते हैं ? मैं कहता हूँ, उन लोगों को इन बेचारों पर दया भी नहीं आती ।"[२]

(ख) "अमरकान्त ने करुण स्वर में कहा—मुझे तो उस आदमी की सूरत नहीं भूलती, जो छः महीने से बीमार पड़ा था और एक पैसे की दवा न ली थी । इस दशा में जमींदार ने लगान की डिग्री करा ली और जो कुछ घर में था, नीलाम करा लिया । बैल तक बिकवा लिये । ऐसे अन्यायी संसार की नियन्ता कोई चेतन शक्ति है, मुझ तो इसमें सन्देह हो रहा है ।"[३]

(ग) "सलीम ने हर एक गाँव का दौरा करके असामियों की आर्थिक दशा की जाँच करना शुरू की । अब उसे मालूम हुआ कि उनकी दशा उससे कहीं हीन है, जितनी वह समझे बैठा था । पैदावार का मूल्य लागत और लगान से कहीं कम था । खाने-कपड़े की भी गुंजाइश न थी, दूसरे खर्चों का क्या जिक्र । ऐसा कोई बिरला किसान ही था, जिसका सिर ऋण के नीचे न दबा हो ।...... उनसे पूरी लगान वसूल करना, मानो उनके मुँह से रोटी का टुकड़ा छीन लेना है, उनकी रक्तहीन देह से खून चूसना है ।"[४]

'गोदान' तो कृषक-जीवन का महाकाव्य ही है । 'होरी' का जीवन तत्कालीन भारत के लाख-लाख किसानों का जीवन है । प्रेमचंद होरी की शोचनीय आर्थिक दशा का चित्रण करते हुए लिखते हैं : "एक तो जाड़े की रात, दूसरे माघ की वर्षा । मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था । होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेड़ पर अपनी मड़ैया में लेटा हुआ था । चाहता था, शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल, फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली

---

१. वरदान—पृष्ठ ८९
२. कर्मभूमि ,, २७
३. वही ,, २८
४. कर्मभूमि—पृ० ३६०

पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसी से मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था; पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डाल कर, हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था।...कम्बल तो उससे जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है; पर अब वह भोजन को चबाने वाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है। जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो।"[1]

भारतीय किसानों की सबसे ज्वलंत समस्या ऋण के बोझ से मुक्त होने की है। प्रेमचंदकालीन ही नहीं बल्कि आज भी अधिकांश किसान महाजनी-सभ्यता के पाट के नीचे बुरी तरह पिस रहे हैं। प्रेमचंद ने बताया कि इन किसानों के लिए "कर्ज वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[2] 'गोदान' का 'होरी' बहुत कुछ ऋण-भार के कारण ही आजन्म कष्ट उठाता है और अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। 'होरी' और अन्य किसान के ऋण की चर्चा करते हुए प्रेमचंद कितने मार्मिक व्यंग के साथ लिखते हैं, "फसल में सब कुछ खलिहान पर तौल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ का कर्ज था, जिस पर कोई सौ रुपये सूद के बढ़ते जाते थे। मँगरू साह से आज पाँच साल हुए बैल के लिए साठ रुपये लिये थे। उसमें साठ दे चुका था; पर यह साठ रुपये ज्यों के त्यों बने हुए थे। दातादीन पंडित से तीस रुपय लेकर आलू बोये। आलू तो चोर खोद ले गये, और उन तीस के इन तीन बरसों में सौ हो गये थे। दुलारी विधवा सहुवाइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तम्बाकू की दुकान रखे हुए थी। बँटवारे के समय उससे चालीस रुपये लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग सौ रुपये हो गये थे; क्योंकि आने रुपया का ब्याज था। लगान के भी अभी पचीस रुपये बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शकुन के रुपयों का भी कोई प्रबन्ध करना था।..... जिन्दगी के दो बड़े-बड़े काम सिर पर सवार थे, गोबर और सोना का विवाह।...यह विपत्ति अकेले उसी के सिर पर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी।"[3]

एक ओर ऋण का बोझ और दूसरी ओर जमींदारों के अत्याचार। किसानों के शोषण का भयंकर रूप प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में बताया है। जब तक किसान-

---

१. गोदान—पृ० १५८

२. वही „ ३३८

३. वही „ ४५-४६

वर्ग जमींदारों के चंगुल से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसकी समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं। जमींदारों और सरकारी अफसरों व कर्मचारियों के द्वारा शोषित किसान के अनेक चित्र प्रेमचंद ने चित्रित किए हैं :—

"इसमें सन्देह नहीं कि अधिकारियों के यह दौरे सदिच्छाओं से प्रेरित होकर होते हैं।...किन्तु जिस भाँति प्रकाश की रश्मियाँ पानी में वक्रगामी हो जाती हैं, उसी भाँति सदिच्छायें भी बहुधा मानवी दुर्बलताओं के सम्पर्क से विषम हो जाया करती हैं। ...अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भाँति इस सुखकाल के दिन गिना करते हैं। शहरों में तो उनकी दाल नहीं गलती, या गलती है तो बहुत कम। वहाँ प्रत्येक वस्तु के लिये उन्हें जेब में हाथ डालना पड़ता है, किन्तु देहातों में जेब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर। ...जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्टर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं। घर वाले हर्ष से फूले नहीं समाते, अपने भाग्य को सराहते हैं। ...देहात वालों के लिए यह बड़े संकट के दिन होते हैं, उनकी शामत आ जाती है, मार खाते हैं, बेगार में पकड़े जाते हैं, दासत्व के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी ह्रास हो जाता है।"[१]

"जमींदारों के बावन हाथ होते हैं।"[२] उनका वर्ग किसानों को किसी न किसी बहाने फँसाने का सामर्थ्य रखता है। पुलिस, न्यायालय, सरकारी अधिकारी, कर्मचारी सभी की उन पर बड़ी कृपा होती है, क्योंकि किसानों की लूट में इन सभी का हाथ रहता है। 'प्रेमाश्रम' में दारोगा नूर आलम सूक्खू चौधरी को किस जालसाजी से फँसाता है—

"सुक्खू चौधरी ने कभी कोकीन का सेवन नहीं किया था, उसकी सूरत नहीं देखी थी, उसका नाम नहीं सुना था, उसका उनके घर में एक तोला कोकीन बरामद हुई। फिर क्या था, मुकद्दमा तैयार हो गया। माल निकलने की देर थी, हिरासत में आ गये।"[३] नकली न्याय का पर्दाफाश करता हुआ कादिर कहता है—

"खुदा ताला ने आँखें बन्द कर लीं। जो कोई भला मानुष दरद बूझकर हमारे पीछे खड़ा भी हो जाता है, तो उस बेचारे की जान भी आफत में फँस जाती है। उसे तंग करने के लिये, फँसाने के लिये तरह-तरह के कानून गढ़ लिये जाते हैं।"[४]

---

१. प्रेमाश्रम—पृष्ठ ७१-७२
२. वही ,, २५१
३. ,, ,, २७२
४. ,, ,, २७६

अहलकार लोग गरीबों को किस तरह सताते हैं इसका नग्न चित्र 'कायाकल्प' में विद्यमान है। राजा विशालसिंह के गद्दी-उत्सव के लिए असामियों पर हल पीछे १०) रुपये चंदा लगा दिया जाता है। निर्धन असामी जब देने में आना-कानी करते हैं तब कर्मचारियों को आदेश मिलता है कि धड़ल्ले से रुपये की वसूली कीजिए। प्रेमचंद लिखते हैं—

"हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के हाथ तो खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग-बाग हो गये। फिर तो वह अन्धेर मचा कि सारे इलाके में कुहराम पड़ गया। ......चारों तरफ लूट खसोट हो रही थी। गालियाँ और ठोक-पीट तो साधारण बात थी, किसी के बैल खोल लिये जाते थे, किसी की गाय छीन ली जाती थी, कितनों ही के खेत कटवा लिये गये। बेदखली और इफाजे की धमकियाँ दी जाती थीं। जिसने खुशी से दिये, उसका तो १०) ही में गला छूट गया। जिसने हीले हवाले किये, कानून बघारा, उसे १०) के बदले २०), ३०), ४०) देने पड़े।"[१]

इस प्रकार अलहकार, थानेदार, पटवारी, कानून गो, कारिन्दे, माल के हुक्काम सभी को किसानों की जान का गाहक प्रेमचंद ने बताया है। न्यायालय के कारकुन, मुहर्रिर, चपरासी सभी किसान को चूसने में लगे हुए हैं। धर्मभीरुता के कारण भी किसानों का पर्याप्त शोषण होता है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने महन्तजी और किसानों का तुलनात्मक चित्रण करके धर्म की आड़ में होने वाले किसानों के शोषण पर प्रकाश डाला है, "बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से लदे हुए, दूसरे मूर्ख, न कायदा जानें, न कानून। महन्त जी जितना चाहें इजाफा करें, जब चाहें बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अकसर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँचती थी; किन्तु लोग भाग्य को रो कर, भूखे-नंगे रह कर, कुत्तों की मौत मर कर, खेत जोतते थे।....

किसानों ने एक-एक दाना बेच डाला, भूसे का एक तिनका भी न रखा; लेकिन यह सब कुछ करने पर भी चौथाई लगान से ज्यादा न अदा कर सके। और ठाकुर द्वारे में वही उत्सव थे, वही जल-विहार थे।"[२]

धर्मभीरु होरी दातादीन के छल-कपट और बेईमानी का विरोध नहीं करता, प्रत्युत, "होरी के पेट में धर्म की क्रान्ति मची हुई थी। अगर ठाकुर या बनिये के रुपये होते तो उसे ज्यादा चिन्ता न होती; लेकिन ब्राह्मण के रुपये। उसकी एक पाई भी दब गई, तो हड्डी तोड़ कर निकलेगी। भगवान् न करें कि ब्राह्मण का कोप

२. कायाकल्प पृ० १२९-३०
१. कर्मभूमि— ,, २९७-९८

किसी पर गिरे। बंस में कोई चिल्लू भर पानी देने वाला, घर में दिया जलाने-वाला भी नहीं रहता। उसका धर्मभीरु मन त्रस्त हो उठा। उसने दौड़कर पंडित जी के चरण पकड़ लिये और आर्त स्वर में बोला—महाराज, जब तक मैं जीता हूँ, मैं तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा।"[1] शोषक-वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन के लिये ऐसे ही धर्म की व्यवस्था कर रखी है। सीधे व धर्मपरायण किसानों का शोषण उसकी आड़ में आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। महाजनी-सभ्यता पैसे के लिये सब कुछ करने के लिये कटिबद्ध है। किसान की महाजनों ने क्या दशा कर रखी है; उसका स्वरूप शोभा और होरी के वर्तालाप में भली-भाँति देखा जा सकता है।

"शोभा निराश होकर बोला—न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं।"

होरी बोला—इस जनम में तो कोई आशा नहीं है भाई। हम राज नहीं चाहते, भोग विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोंटा पहनना और मोटा-झोंटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।"[2]

इस प्रकार प्रेमचंद ने किसान-वर्ग के जीवन की विस्तृत झाँकी अपने उपन्यासों में चित्रित की है। किसान की अनेक समस्याओं का सम्यक् उद्घाटन करने के बाद वे उसके हल का उपाय भी सुझाते हैं। वास्तव में किसान की प्रमुख समस्या आर्थिक है। जब तक किसान का शोषण बंद नहीं होता तब तक उसकी दशा में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए किसान का शोषण करने वाले वर्ग का नाश होना आवश्यक है। प्रेमचन्द ने इस दिशा में स्पष्ट संकेत दिये हैं। उन्होंने किसान-वर्ग में उभरती एक नई विद्रोही पीढ़ी का चित्रण करके किसानों के मुक्ति-संग्राम को दिशा दी है। 'प्रेमाश्रम' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचंद का क्रांतिकारी व्यक्तित्व देखने योग्य है। 'प्रेमाश्रम' का मनोहर प्रारम्भ में भी अपने स्वाभिमान के प्रति कितना सजग है: "गिरधर—जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म के बाहर नहीं जा सकते।

मनोहर—जमीन कोई खैरात जोतते हैं? उसका लगान देते हैं। एक किश्त भी बाकी पड़ जाय तो नालिश होती है।"[3] मनोहर से कहीं विद्रोही व्यक्तित्व बलराज नामक नौजवान किसान का है। बलराज स्पष्ट चुनौती के शब्दों में कहता है: "जमींदार कोई बादशाह नहीं है कि चाहे जितनी जबरदस्ती करे और हम मुँह न खोलें। इस जमाने में तो बादशाहों का भी इतना अख्त्यार नहीं, जमींदार

---

१. गोदान—पृ० २६७-६८
२. वही „ २४६
३. प्रेमाश्रम „ ५

किस गिनती में हैं। कचहरी दरबार में कहीं सुनायी नहीं है तो (लाठी दिखाकर) यह तो कहीं नहीं गयी है।"[१]

किसान के हृदय और मस्तिष्क से सर्व-प्रथम भय को दूर करना आवश्यक है तभी वह शोषक का बुलंदी से सामना कर सकता है। दूसरे, उसका शिक्षित होना भी अनिवार्य है। दुनिया के अन्य देशों के किसान-आन्दोलनों की जानकारी मिलते रहने पर भारतीय किसान भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकता है। प्रेम-चंद ने बलराज को ऐसे ही जागरूक किसान के रूप में 'प्रेमाश्रम' में चित्रित किया है। बलराज कहता है—"मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज्य है, वह जो चाहते हैं, करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"[२] सरकारी अफ़सरों की मनमानी लूट के विरुद्ध भी प्रेमचंद अपने किसानों को खड़ा करते हैं। कादिर—"इसमें हाकिमों का कसूर नहीं। यह सब उनके लश्कर वालों की धांधली है।

मनोहर—कैसी बातें कहते हो दादा? यह सब मिली भगत है। हाकिम का इशारा न हो तो मजाल है कि कोई लश्करी परायी चीज पर हाथ डाले सके। सब कुछ हाकिमों की मर्जी से होता है और उनकी मर्जी क्यों न होगी? संत का माल किसको बुरा लगता है?"[३] प्रेमचंद के ये किसान गूँगे, बेबस और कमजोर नहीं हैं। उनमें क्रांतिकारी भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई हैं, जो हर अन्याय का सक्रिय विरोध करते हैं। 'गोदान' में धनिया और 'गोबर' का व्यक्तित्व भी ऐसा ही है। धनिया की स्पष्ट मान्यता है, "हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें? उसके तलवे क्यों सहलावें?"[४] गोबर अपने पिता के दब्बूपन का विरोध करता हुआ कहता है, "यह तुम रोज रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नजर-नजराना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो?"[५] दातादीन के हथकंडों का पर्दाफाश करता हुआ गोबर एक और स्थल पर कहता है, "मुझे खूब याद है, तुमने बैल के लिये तीस रुपये दिये थे। उसके सौ हुए। अब सौ के दो-सौ हो गए। इसी तरह इन लोगों ने किसानों को लूट-लूट कर मजूर बना डाला और

---

१. वही पृ० ६७
२. ,, ,, ६६
३. प्रेमाश्रम ,, ७३
४. गोदान ,, ३
५. वही ,, १६

आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे। तीस के दो-सौ। कुछ हद है।"[१] और दातादीन के चले जाने पर, "गोबर ने तिरस्कार की आँखों से देखकर कहा—"गये थे देवता को मनाने? तुम्हीं लोगों ने तो इन सबों का मिजाज बिगाड़ दिया है। तीस रुपये दिए, अब दो-सौ रुपये लेगा, और डाँट ऊपर से बतायेगा और तुमसे मजूरी करायेगा और काम कराते-कराते मार डालेगा।"[२] होली के पर्व पर व्यंग्य करने का गाँव वालों को अवसर मिलता है। प्रेमचंद ने महाजनी-सभ्यता पर एक स्थल पर बड़ा करारा व्यंग्य किया है। किसान महाजन ठाकुर की नकल बना रहे हैं:—

"किसान आकर ठाकुर के चरण पकड़ कर रोने लगता है। बड़ी मुश्किल से ठाकुर रुपये देने पर राजी होते हैं। अब कागज लिखा जाता है और असामी के हाथ में पाँच रुपये दिये जाते हैं, तो वह चकराकर पूछता है—

"यह तो पाँच ही हैं मालिक।"

"पाँच नहीं दस हैं। घर जाकर गिनना।"

"नहीं सरकार, पाँच हैं।"

"एक रुपया नज़राने का हुआ कि नहीं।"

"हाँ, सरकार।"

"एक तहरीर का।"

"हाँ सरकार।"

"एक कागद का?"

"हाँ सरकार।"

"एक दस्तूरी का।"

"हाँ सरकार।"

"एक सूद का।"

"हाँ सरकार।"

"पाँच नगद, दस हुए कि नहीं?"

"हाँ सरकार। अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिए।"

"कैसा पागल है।"

"नहीं सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का, एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने का, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के पान खाने का। बाकी बचा एक, वह आपके क्रिया-करम के लिये।"[३] गोबर

---

१. गोदान—पृ० २९७

२. ,, ,, २९८

३. ,, ,, २९४-२९५

के माध्यम से प्रेमचंद भारतीय किसानों को जो संदेश देते हैं वह किसान-वर्ग के भविष्य का मूलाधार है—उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी।"[१] प्रेमचन्द ने इस प्रकार किसानों की मात्र दयनीय दशा का ही चित्रण नहीं किया प्रत्युत उनमें उभरते हुए क्रान्तिकारी विचारों को भी व्यक्त किया है। प्रेमचन्द का साहित्य किसान को पस्त-हिम्मत नहीं करता वह उन्हें सजग करता है, उन्हें अपने अधिकारों के पाने के लिए संगठित होने में प्रेरणा देता है। उनके आन्दोलनों को बल पहुँचाता है।)

किसान-वर्ग की समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में स्पष्ट घोषणा की है, जिसके अनुसार जमींदारी-प्रथा का कोई अस्तित्त्व नहीं रहता। प्रेमशंकर और ज्वालासिंह के संवादों में प्रेमचन्द अपने विचार रखते हुए लिखते हैं,—"प्रेम—मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी मेहनत की कमाई खानी चाहिए। यही प्राकृतिक नियम है। किसी को यह अधिकार नहीं कि दूसरों की कमाई को अपनी जीवन वृत्ति का आधार बनाये।

ज्वाला—तो यह कहिए कि आप जमींदार के पेशे को ही बुरा समझते हैं।

प्रेम—हाँ, मैं इसका भक्त नहीं हूँ। भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिये है, कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।"[२]

(अतः स्पष्ट है, प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में मात्र ग्रामीण-जीवन की कथा ही नहीं कहते वरन् उस कथा के माध्यम से वे ग्रामीण जीवन की नाना समस्याओं और प्रश्नों पर प्रकाश डालते हुए उनके हल का रास्ता भी बताते हैं। भारतीय किसानों की आज प्रमुख समस्या जमींदारी-प्रथा से मुक्ति की समस्या है; क्योंकि इसी पहलू पर उनकी आर्थिक-स्थिति निर्भर करती है। प्रेमचन्द ने अपने किसानों को इसी प्रथा के विरोध में खड़ा किया है तथा उन्हें सही दिशा दी है।) यह मार्ग समस्यामूलक उपन्यासकार ही अपना सकता है।

---

१. गोदान—पृष्ठ ४८१
२. प्रेमाश्रम ,, २३०

अछूत-वर्ग

अछूत वर्ग के अन्तर्गत प्रेमचन्द ने केवल चमारों के जीवन पर प्रकाश डाला है। किसी विशिष्ट जाति को लेकर प्रेमचन्द ने जो विचार व्यक्त किए हैं वे वास्तव में उस जाति विशेष तक ही सीमित न रह कर उस वर्ग के ही बन गए हैं। अत: चमारों के रहन-सहन, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति आदि का जहाँ कहीं चित्रण किया गया है; वहाँ समस्त अछूत-वर्ग का ही चित्रण समझना चाहिए।

छूआछूत हिन्दू-समाज की एक भयंकर बीमारी है। धार्मिक अन्ध-विश्वासों द्वारा पोषित छुआछूत की भावनाएँ हिन्दू-समाज के अधिकांश जनों में व्याप्त हैं। ये लोग चाहे अपढ़ ग्रामीण स्त्री-पुरुष हों या पढ़े-लिखे नागरिक। दोनों अपने को इस सामाजिक कुरीति से मुक्त नहीं कर सके हैं। प्रेमचन्द छुआछूत के विरुद्ध थे। मनुष्य-मनुष्य के बीच यह अन्तर अमानवीय है। प्रेमचन्द ने हिन्दू-समाज में पाये जाने वाले इस अमानवीय भाव को दूर करने और अछूत-वर्ग के स्वाभिमान को जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है।

अछूत वर्ग पर "कर्मभूमि" में विस्तार से लिखा गया है। वास्तव में वही एक उपन्यास है जिसमें अछूतों की समस्या पाई जाती है। वैसे "प्रतिज्ञा", "गोदान" आदि उपन्यासों में भी यत्र-तत्र अछूतों की समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

अछूत-समस्या के अनेक पहलू हैं। कुछ लोग इसे मात्र धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हैं। हिन्दुओं ने अपने मंदिरों में अछूतों का प्रवेश निषिद्ध कर रखा है। अनेक समाज-सुधारक अछूतों को मंदिर-प्रवेश करा देने में ही अछूतों की समस्या का समाधान समझ बैठे हैं। वास्तव में, मंदिर-प्रवेश से अछूतों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता। उनकी मूल समस्या तो सामाजिक और आर्थिक है। जब तक समाज में अछूतों और उनके कामों के प्रति आदर-भाव उत्पन्न नहीं होता तब तक उनके जीवन में कोई क्रान्ति नहीं आ सकती। प्रेमचन्द ने जहाँ प्रस्तुत समस्या के धार्मिक पहलू को छुआ है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया।

प्रेमचन्द किसी वर्ग विशेष के प्रति मात्र बौद्धिक समवेदना ही प्रकट नहीं करते। अछूत-वर्ग एक दलित, तिरस्कृत और उपेक्षित वर्ग है इसलिये आँखें बन्द करके उसके गुण-गान करना प्रेमचन्द की नीति नहीं है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग का पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। जहाँ उन्होंने अच्छाइयों को छुआ है वहाँ उस वर्ग विशेष में पाई जाने वाली दुर्बलताओं को भी छोड़ा नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी सहानुभूति समाज द्वारा पीड़ित और बहिष्कृत वर्गों की ओर है; पर यह सहानुभूति सचाई को तोड़ती–मरोड़ती नहीं है।

"कर्मभूमि" में दूसरे भाग से चमारों के जीवन की कहानी प्रारम्भ होती है; जब अमर एक परदेशी के रूप में एक पहाड़ी गाँव में पहुँचता है, जहाँ रैदास रहते हैं। सर्वप्रथम उसका एक बुढ़िया से साक्षात्कार होता है। अमर जाँत-पाँत के सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही स्पष्ट घोषणा करता है—"मैं जाँत-पाँत नहीं मानता, माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो, तो आदर के योग्य है; जो दगाबाज झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के योग्य नहीं।"[१] प्रेमचन्द की यह स्पष्ट मान्यता थी।

अछूतों की आर्थिक-स्थिति कितनी भयावह है उसका चित्र उस बुढ़िया रदास की झोंपड़ी है। अमर झोंपड़ी में गया, "तो उसका हृदय काँप उठा। मानो दरिद्रता छाती पीट-पीट कर रो रही है। और हमारा उन्नत समाज विलास में मग्न है। उसे रहने को बँगला चाहिए, सवारी को मोटर। इस संसार का विध्वंस क्यों नहीं हो जाता ?"[२]

चमारों की सामाजिक-स्थिति का चित्रण बालकों के मुख से प्रेमचन्द करवाते हैं। अमर चमार बालकों से पूछता है, "कहाँ पढ़ने जाते हो ? बालक ने नीचे का ओठ सिकोड़ कर कहा—कहाँ जायँ, हमें कौन पढ़ाये ? मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं। एक दिन दादा हम लोगों को लेकर गए थे। पंडित जी ने नाम लिख लिया; पर हमें सबसे अलग बैठाये थे। सब लड़के हमें 'चमार-चमार' कह कर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम कटा दिया।"[३] इस समाज में जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होता तब तक उसके सामाजिक स्तर को ऊँचा नहीं उठाया जा सकता। अशिक्षित दशा में, उनमें पाये जाने वाले दोष भी नहीं मिट सकते एवं उनकी आर्थिक-स्थिति भी नहीं सुधर सकती।

प्रेमचन्द ने चमार-वर्ग के चित्रण में कम रुचि नहीं ली है। उन्होंने चमार-वर्ग

१. कर्मभूमि—पृष्ठ १४८
२. वही ,, १४८
३. ,, ,, १५२

को क्षयी या दमित रूप में चित्रित नहीं किया वरन् उसमें वर्ग-चेतना की आग भड़कती बताई है; जो प्रत्येक अनीति और अत्याचार का कड़ा विरोध करते हैं। इसी पहाड़ी गाँव का चौधरी गूदड़ अमर से कहता है—"भगवान ने छोटे-बड़े का भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उसके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता ?

पयाग ने शंका समाधान की—पूरब-जनम का संस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहा है।

चौधरी ने खंडन किया—यह सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरों के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहें, कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष : पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और पेट भर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले।"[1] जहाँ प्रेमचन्द अछूतों के स्वाभिमान की पूरी रक्षा करते हैं, वहाँ उनमें पाये जाने वाले दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं। मृत गौ का मांस खाने का प्रश्न सामने आता है। पक्ष-विपक्ष में अनेक बातें कही जाती हैं। चमारों में पूर्व संस्कारों के कारण मृत गाय का मांस खाना साधारण बात थी। और भी निम्न-प्रवृतियाँ चमार-वर्ग में पाई जाती हैं। दारू-शराब और मुर्दा मांस का प्रचलन होने से अन्य जातियाँ चमारों से दूर रहती हैं। उनके सामाजिक बहिष्कार के पीछे कुछ उनमें भी पाये जाने वाले दोष हैं। प्रेमचन्द ने इस पहलू पर भी स्पष्ट रूप से लिखा है। चमड़े का काम करने अथवा जूते बनाने से कोई जाति निकृष्ट नहीं हो जाती, लेकिन इस बात को स्वीकार करने पर भी चमारों में पाये जाने वाले दोषों पर परदा नहीं डाला जा सकता। मुर्दा गाय के मांस खाने के सम्बन्ध में प्रेमचन्द एक युवक को मध्यस्थ बनाकर कहलाते हैं—"मरी गाय के मांस में एसा कौन-सा मजा रखा है, जिसके लिए सब जने मरे जा रहे हो। गड्ढा खोदकर मांस गाड़ दो, खाल निकाल लो।...सारी दुनिया हमें इसीलिए तो अछूत समझती है, कि हम दारू-शराब पीते हैं, मुरदा-मांस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं। और हममें क्या बुराई है ? दारू-शराब हमने छोड़ ही दी, हमने क्या छोड़ दी, समय ने छुड़वा दी। फिर मुरदा-मांस में क्या रखा है ? रहा चमड़े का काम, उसे कोई बुरा नहीं कह सकता, और अगर कहे भी तो हमें उसकी परवाह नहीं। चमड़ा बनाना-बेचना बुरा काम नहीं।"[2]

---

१. कर्मभूमि—पृ० १५७
२. कर्मभूमि— „ १७७

मरी गाय का मांस यदि दो-चार चमार खाना छोड़ देंगे तो इससे उनकी बिरादरी के सभी चमार तो सुधर नहीं जाते। दो-चार का हृदय-परिवर्तन कर देने से कोई सामूहिक हल सामने नहीं आता। लेकिन प्रेमचन्द इसके लिए रुकने वाले नहीं थे। इसी बीच एक बूढ़े ने कहा, "एक तुम्हारे या हमारे छोड़ देने से क्या होता है? सारी बिरादरी तो खाती है?

भूरे ने जवाब दिया—बिरादरी खाती है, बिरादरी नीच बनी रहे। अपना-अपना धरम अपने-अपने साथ है।

गूदड़ ने बूढ़े को सम्बोधित किया—तुम ठीक कहते हो भूरे। लड़कों का पढ़ाना ही ले लो। पहले कोई भेजता था अपने लड़कों को? मगर जब हमारे लड़के पढ़ने लगे, तो दूसरे गाँवों के लड़के भी आ गये।"[1] इस प्रकार प्रेमचन्द कर्म में अधिक विश्वास रखते थे। वे मात्र वैचारिक दुनिया में अपने पात्रों को नहीं छोड़ देते; वरन् उन्हें कर्मठ और जीवट पूर्ण बनाकर सामाजिक सुधार की दिशा में लगा देते हैं।

"कर्मभूमि" में अछूत-समस्या का दूसरा पहलू मंदिर-प्रवेश का है जो एक सीमा तक उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न प्रस्तुत उपन्यास में आगे चल कर एक आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है। एक महीने से ठाकुरद्वारे में पं० मधुसूदन जी की कथा हो रही है। एक दिन सहसा पिछली सफों में हंगामा हो जाता है। कथा बन्द हो जाती है। यह हंगामा मन्दिर में बैठे अछूतों को लेकर होता है। प्रेमचन्द ने धर्मध्वजियों की वास्तविकता इस प्रसंग को लेकर विस्तार से चित्रित की है—

"ब्रह्मचारी—लोग भगवान की कथा सुनने आते हैं कि अपना धर्म भ्रष्ट करने आते हैं? भंगी, चमार जिसे देखो घुसा चला आता है। ठाकुर जी का मन्दिर न हुआ सराय हुई।

...ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे। रोज सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है? धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है? धर्मात्माओं के क्रोध का वारापार न रहा। कई आदमी जूते ले-लेकर उन गरीबों पर पिल पड़े। भगवान के मन्दिर में, भगवान के भक्तों के हाथों, भगवान के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा।"[2]

प्रेमचन्द इन धर्म के तथाकथित ठेकेदारों से कहीं समझौता नहीं करते। डा० शान्तिकुमार के मुख से चुनौती के स्वर में कहलाते हैं,—"अन्धे भक्तों की आँखों

---

१. कर्मभूमि—पृ० १७८

२. वही „ २०६

में धूल झोंक कर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गये। अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।"[1]

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे। 'कर्मभूमि' में जब उन्होंने अछूतों की समस्या को स्पर्श किया तो उस पर ऊपरी तौर पर ही लिख कर वे सन्तोष नहीं कर लेते। वे समाज को और सचेत करते हैं उसे और आगे बढ़ाते हैं तथा उसे अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तैयार भी करते हैं। दूसरे दिन नियत समय पर कथा फिर प्रारम्भ होती है, पर अछूत-वर्ग और उससे सहानुभूति रखने वाले लोग उसमें भाग नहीं लेते। वे 'नौजवान सभा' के नाम से खुले मैदान में अपनी अलग कथा का आयोजन करते हैं। प्रेमचन्द ने इन दोनों समाजों की कथा का चित्रण करके बताया है कि धर्म के उपासक वास्तव में कौन हैं। मन्दिर में हो रही कथा का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, "श्रोताओं की संख्या बहुत कम हो गयी थी। मधुसूदन जी ने बहुत चाहा, कि रंग जमा दें, पर लोग जम्हाइयाँ ले रहे थे और पिछली सफों में तो लोग धड़ल्ले से सो रहे थ। मालूम होता था, मन्दिर का आँगन कुछ छोटा हो गया है, दरवाजे कुछ नीचे हो गये हैं।"[2] यह दशा उन 'धर्मवीरों' की है जो मन्दिर में अछूतों को देखकर हिंसक हो उठे थे, जो धर्म पर अपना एकाधिकार समझते हैं। दूसरी ओर प्रगतिशील जमात द्वारा आयोजित कथा का दृश्य देखिए, "उधर नौजवान सभा के सामने खुले मैदान में शान्तिकुमार की कथा हो रही थी। ब्रजनाथ, सलीम, आत्मानन्द आदि आनेवालों का स्वागत करते थे। थोड़ी देर में दरियाँ छोटी पड़ गयीं और थोड़ी देर और गुजरने पर मैदान भी छोटा पड़ गया। अधिकांश लोग नंगे बदन थे, कुछ लोग चीथड़े पहने हुए थे। उनकी देह से तम्बाखू और मैलपन की दुर्गन्ध आ रही थी। स्त्रियाँ आभूषणहीन, मैली-कुचैली धोतियाँ या लँहगे पहने हुए थीं। ...पर हृदयों में दया थी, धर्म था, सेवा भाव था, त्याग था।"[3] यह वास्तविक धर्म का रूप था; मनुष्य मनुष्य के बीच किसी छुआछूत व घृणा का नाम न था। मुसलमान, हिन्दू, अछूत सभी दया, धर्म, सेवा और त्याग के साक्षात अवतार बने हुए थे। प्रेमचन्द ने इस तुलनात्मक चित्रण द्वारा धर्म के ठेकेदारों की धज्जियाँ उड़ाई हैं। समस्त धार्मिक पाखण्डों को खोलकर रख दिया है। कथा के वर्ण्य-विषय पर प्रेमचन्द लिखते हैं,—"यह देवी-देवताओं और अवतारों की कथा न थी, ब्रह्म ऋषियों के तप और तेज का वृत्तान्त न था, क्षत्रियों के शौर्य और दान की गाथा न थी। यह उस पुरुष का पावन चरित्र था, जिसके यहाँ मन

---

१. वही—पृष्ठ २०८
२. ,, ,, २०९
३. ,, ,, २०९

ग्रौर कर्म की शुद्धता ही धर्म का मूल तत्त्व है। वही ऊँचा है, जिसका मन शुद्ध है, जिसका मन ग्रशुद्ध है जिसने वर्ण का स्वांग रचकर समाज के एक ग्रंग को मान्य ग्रौर दूसरे को म्लेच्छ नहीं बनाया। किसी के लिए उन्नति या उद्धार का द्वार नहीं बन्द किया, एक के माथे पर बड़प्पन का तिलक ग्रौर दूसरे के माथे पर नीचता का कलंक नहीं लगाया। इस चरित्र में ग्रात्मोन्नति का एक सजीव सन्देश था, जिसे सुनकर दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनकी ग्रात्मा के बन्धन खुल गये हैं, संसार पवित्र ग्रौर सुन्दर हो गया है।"[1] धर्म की इससे सुन्दर व्याख्या ग्रौर क्या हो सकती है! ग्रछूतों के सामाजिक सम्मान को बढ़ाने के लिये प्रेमचन्द ने वर्णवादियों की दूषित मनोवृत्तियों पर प्रहार करने में कोई कसर नहीं की। ग्रगले रोज फिर कथा होती है। डा० शान्तिकुमार का प्रवचन चल रहा है, "क्या तुम ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर ग्राये हो? तुम तन मन से दूसरों की सेवा करते हो, पर तुम गुलाम हो। तुम्हारा समाज में कोई स्थान नहीं। तुम समाज की बुनियाद हो। तुम्हारे ही ऊपर समाज खड़ा है, पर तुम ग्रछूत हो। तुम मन्दिरों में नहीं जा सकते। ऐसी ग्रनीति इस ग्रभागे देश के सिवा ग्रौर कहाँ हो सकती है? क्या तुम सदैव इसी भाँति पतित ग्रौर दलित बने रहना चाहते हो?

...मन्दिर किसी एक ग्रादमी या समुदाय की चीज नहीं है। वह हिन्दू मात्र की चीज है। यदि तुम्हें कोई रोकता है तो उसकी जबरदस्ती है। मत टलो उस मन्दिर के द्वार से, चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा ही क्यों न हो।"[2] इस प्रकार 'कर्मभूमि' में समाज के ये दलित ग्रछूत संगठित होकर ग्रपने सामाजिक ग्रधिकारों की लड़ाई छेड़ देते हैं। पहले शान्तिपूर्ण प्रतिरोध में उन्हें सफलता नहीं मिलती। पंडे-पुजारियों की लाठियों के कुंदों के प्रहारों से ग्राहत होकर भीड़ में भगदड़ मच जाती है। डा० शान्तिकुमार भीड़ को रोकते रह जाते हैं ग्रौर ग्रन्त में घायल ग्रौर बेहोश होकर गिर जाते हैं। प्रेमचन्द यहाँ यथार्थ चित्रण करके समस्या को स्वाभाविक विकास की दिशा में ले जाते हैं। युग-युग से दलित-वर्ग में चेतना ग्रौर संघर्ष का क्रमिक विकास प्रेमचन्द ने बताया है। कोई जादू की छड़ी से वे ग्रछूत-वर्ग का कायाकल्प नहीं कर देते। जहाँ वे यथार्थ का ग्राँचल नहीं छोड़ते वहीं दूसरे ग्रोर ग्रछूत-वर्ग के साहस को भी कम करके नहीं बताते। इस प्रकार प्रेमचन्द-साहित्य दलित-वर्ग को शक्ति प्रदान करता है। उसे निराश नहीं होने देता। ग्रगले रोज ग्रछूतों का ग्रान्दोलन जोर पकड़ता है। हिन्दू-धर्म के तथाकथित रक्षक, ग्रछूतों के इस बढ़ते ग्रान्दोलन

---

१. वही पृ० २०९-२१०

२. वही " २११

पर, आपे से बाहर हो जाते हैं। पुलिस भी उन्हीं की रक्षा के लिये आ जाती है। समरकान्त क्रोधित हो कर कहता है, "वहाँ का तो रास्ता ही बन्द है। जाने कहाँ के चमार-सियार आकर द्वार पर बैठे हैं। किसी को जाने ही नहीं देते। पुलिस खड़ी उन्हें हटाने का प्रयत्न कर रही है, पर अभागे कुछ सुनते ही नही।"[१] अन्त में लाला समरकान्त निहत्थे अछूतों और उनके उद्धारकों पर गोली चला देते हैं। प्रेमचन्द नैना के मुख से ऐसे धर्म पर टिप्पणी करवाते हैं, "जिस धर्म की रक्षा गोलियों से हो, उस धर्म में सत्य का लोप समझो।"[२] अछूतोद्धार के इस आन्दोलन में प्रेमचन्द नारी-वर्ग को सबसे अधिक सामने लाते हैं। उनकी नारियाँ अछूत विरोधी तत्त्वों का खुला विरोध करती हैं। सुखदा और नैना के द्वारा प्रेमचन्द ने भारत की प्रगतिशील नारियों के विचारों-भावों को व्यक्त किया है। सम्भवतः इसलिए भी कि भारतीय स्त्रियाँ अधिकतर धर्मपरायण होती हैं। उनमें चेतना का समावेश नितान्त अनिवार्य है। जब ऐसी स्त्रियाँ 'कर्मभूमि' को पढ़ेंगी तो उनका प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्रियों के साहस और मानवीय गुणों से निश्चय ही वे प्रभावित होंगी। सुखदा के भाषण से भागने वाले आदमियों की एक दीवार-सी खड़ी हो जाती है। प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन की दृढ़ता का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। वे लिखते हैं,— "बन्दूकों से धाँय ! धाँय ! की आवाजें निकलीं। एक गोली सुखदा के कानों के पास से भन से निकल गयी। तीन-चार आदमी गिर पड़े; पर दीवार ज्यों की त्यों अचल खड़ी थी।"[३]

अछूत मन्दिर में प्रवेश कर ही जाते हैं। प्रेमचन्द ने यह मन्दिर-प्रवेश कोई गांधीवादी ढंग पर चित्रित नहीं किया है। समरकान्त और ब्रह्मचारी का हृदय-परिवर्तन कराके सद्भावना के वातावरण में यह घटना नहीं घटती। प्रेमचन्द उस विराट जन-समूह के बलिदानों की गाथा लिखने के बाद उसके विजय का चित्र खींचते हैं, "सन्ध्या समय इन धर्म विजेताओं की अर्थियाँ निकलीं। सारा शहर फट पड़ा। जनाजे पहले मन्दिर-द्वार पर गये। मन्दिर के दोनों द्वार खुले हुए थे। पुजारी और ब्रह्मचारी किसी का पता न था। सुखदा ने मन्दिर से तुलसी-दल लाकर अर्थियों पर रखा और मरने वालों के मुख में चरणामृत डाला। इन्हीं द्वारों को खुलवाने के लिये यह भीषण संग्राम हुआ। अब वह द्वार खुला हुआ है, वीरों का स्वागत करने के लिये हाथ फैलाये हुए हैं; पर ये

---

१. कर्मभूमि—पृ० २१५
२. वही ,, २१७
३. वही ,, २१८

रूठने वाले अब द्वार की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते। कैसे विचित्र विजेता हैं। जिस वस्तु के लिये प्राण दिये, उसी से इतना विराग !

...इधर गंगा के तट पर चिताएँ जल रही थीं, उधर मन्दिर इस उत्सव के आनन्द में दीपकों के प्रकाश से जगमगा रहा था, मानों वीरों की आत्माएँ चमक रही हों।"[१]

अछूत-समस्या का यह धार्मिक पहलू है; जिसे प्रेमचन्द ने काफी विस्तार के साथ 'कर्मभूमि' में चित्रित किया है और अछूत-वर्ग की विजय बताई है। लेकिन अछूत-समस्या कोई मन्दिर-प्रवेश की ही समस्या नहीं है। वास्तव में इससे उनकी आर्थिक-स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। प्रेमचन्द ने उक्त समस्या के अन्य पहलुवों पर भी दृष्टि डाली है। यदि वे समस्यामलक उपन्यासकार न होते तो इन बातों की गहराई में कदापि न जाते। "कर्मभूमि" में अगला संघर्ष सामाजिक और आर्थिक दशा को लेकर होता है।

अछूत और निम्न-वर्ग के रहन-सहन का स्तर जितना भयावह गाँवों में है उतना ही नगरों में। उनके रहने के स्थान साक्षात् नरक हैं। 'कर्मभूमि' में दलित-वर्ग के मकानों की समस्या को भी उठाया गया है। म्युनिसिपल-बोर्ड और उसके कर्णधार केवल धनिकों की ही सेवा करने में अपने को कर्तव्य इतिश्री समझते हैं। गरीबों की झोंपड़ियों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। नगर की सभी दलित जातियाँ इस उपेक्षा और अत्याचार के विरुद्ध संगठित होकर अपने जीवनयापन का स्तर ऊँचा उठाने के लिये आन्दोलन करती हैं। इन जातियों में चमार हैं, धोबी हैं, मेहतर हैं, नाई हैं, कहार हैं। सब अपनी-अपनी पंचायत करते हैं और हड़ताल की तैयारी करते हैं। हड़ताल के पूर्व ये लोग हाकिम से कहने सुनने के सभी असफल प्रयास कर चुके थे। प्रेमचंद ने दलितों में एक नई चेतना फूटती हुई बताई है। वे चुपचाप अन्याय को सहन नहीं कर लेते। उन्हें भी अपने स्वत्व का ज्ञान हो गया है। वे अब अधिकारियों की निरंकुशता और स्वार्थपरता को सहन नहीं करते। सुखदा के द्वारा प्रेमचंद उन्हें उनके अधिकार के लिये लड़ने को तैयार करते हैं, "हाकिमों से जो कुछ कहना-सुनना था, कह सुन चुके, किसी ने भी कान न दिया।...हम जितना दबेंगे, यह बड़े आदमी हमें उतना ही दबायेंगे। आज तुम्हें तय करना है कि तुम अपने हक के लिये लड़ने को तैयार हो या नहीं।"[२] मुरली खटिक विद्रोह स्वर में कहता है, "किसी को तो महल और बँगला चाहिए, हमें कच्चा घर भी न मिले। मेरे घर में पाँच जने हैं। उनमें से चार आदमी महीने

१. कर्मभूमि—पृष्ठ २१९-२२०
२. कर्मभूमि ,, २६६-२६७

भर से बीमार हैं । उस काल कोठरी में बीमार न हों, तो क्या हों । सामने से गन्दा नाला बहता है । साँस लेते नाक फटती है ।"[1] आगे चलकर म्युनिसिपल बोर्ड इन टूटी-फूटी झोंपड़ियों को ही समूल नष्ट करने पर तुल जाता है । 'नगर-निर्माण-संघ' बनाकर किसानों की जमीन अमीरों के बँगले बनवाने के लिए कौड़ियों में खरीद ली जाती है । जनता इसके विरुद्ध आवाज लगाती है । रेणुका देवी समस्त दलितों से आह्वान-स्वर में कहती हैं, "हमारी लड़ाई इस बात पर है कि जिस नगर में आधे से ज्यादा आबादी गन्दे बिलों में मर रही हो, उसे कोई अधिकार नहीं है कि महलों और बँगलों के लिए जमीन बेचे । आपने देखा था, यहाँ कई हरे भरे गाँव थे । म्युनिसिपैलिटी ने नगर-निर्माण-संघ बनाया । गाँव के किसानों की जमीन कौड़ियों के दाम छीन ली गई, और आज वही जमीन अशर्फियों के दाम बिक रही है, इसलिए कि बड़े आदमियों के बँगले बनें । हम अपने नगर के विधाताओं से पूछते हैं, क्या अमीरों ही के जान होती है ? गरीबों के जान नहीं होती ? अमीरों ही को तन्दुरुस्त रखना चाहिए ? गरीबों को तन्दुरुस्ती की जरूरत नहीं ? अब जनता इस तरह मरने को तैयार नहीं है । अगर मरना ही है तो इस मैदान में, खुले आकाश के नीचे, चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में मरना बिलों में मरने से कहीं अच्छा है ! . . . हमें बोर्ड के मेम्बरों को यही चेतावनी देनी है ?"[2] अछूतों और दलितों का विशाल समूह म्यूनिसिपल बोर्ड के कार्यालय की ओर बढ़ता है । नैना के बलिदान से उसे दुर्दम बल मिलता है और अन्त में उसकी विजय होती है । म्युनिसिपल-बोर्ड अपने निर्णय को निरस्त कर देता है ।

इस प्रकार 'कर्मभूमि' में अछूत-वर्ग के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर भी प्रेमचंद ने पूरे मनोयोग से लिखा है । अछूत समस्या का समाधान यही है कि शासकों को और कुलीन कहलाने वालों को चाहिए कि वे दलितों को सीधे-सीधे मानवीय अधिकार प्रदान करें अन्यथा अब समय आ गया है कि वे मौन बैठने वाले नहीं हैं और कभी भी विद्रोह की आग भड़का सकते हैं । प्रेमचंद ने समाज के ठेकेदारों को चेतावनी देकर उक्त समस्या पर भली-भाँति प्रकाश डाला है । अपने उपन्यासों में कथा-विकास को रोक कर, चरित्र-चित्रण की कला को भूलकर प्रेमचंद पात्रों के मुख से लम्बे-लम्बे भाषण दिलवाने लगते हैं । इसका मूल कारण यही है कि वे उपन्यास के माध्यम से विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन करना चाहते थे । यदि वे इन लम्बे-लम्बे संवादों और भाषणों को न रखते तो उनका उद्देश्य ही पूरा न होता !

---

१. वही पृष्ठ २६७
२. वही ,, ३६४-६५

वेश्या-समस्या

प्रेमचंद समस्यामूलक उपन्यासकार थे यह बात उनके प्रारम्भिक उपन्यास से लेकर अन्तिम उपन्यास तक में भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचंद इस तत्व को लेकर ही औपन्यासिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। उन्होंने अपने पूर्व का उर्दू-हिन्दी का प्रायः सभी कथा-साहित्य पढ़ डाला था, पर न तो अपनी पूर्व परम्परा के अनुसार और न कोई सुन्दर कथा लिखने की दृष्टि से उंन्होंने लेखनी उठाई थी। उनकी प्रखर सामाजिक चेतना सोद्देश्य कृतियों के निर्माण की शिक्षा में उन्मुक्त थी। 'वरदान' में यत्र-तत्र वे उसका परिचय दे चुके थे, और 'प्रतिज्ञा' तो एक सुनिश्चित समस्या विधवा-समस्या, को लेकर ही हमारे सामने आई। प्रेमचंद इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते गये और अपने प्रसिद्ध एवं अत्यधिक लोकप्रिय उपन्यास 'सेवासदन' में वे वेश्या-समस्या को लेकर आते हैं। जिस तरह 'प्रतिज्ञा' पर विधवा-समस्या छाई हुई है उसी प्रकार 'सेवासदन' पर वेश्या-समस्या। प्रेमचंद अपने इस उपन्यास में वेश्या-वृत्ति पर इतने विस्तार से लिख गये हैं कि आगे फिर अन्य उपन्यासों में इस विषय को पुनः स्पर्श करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। वेश्या-समस्या के प्रत्येक पहलू पर अनेक दृष्टिकोणों से 'सेवासदन' में विचार किए गये हैं। वेश्या बनने के मूल कारणों से लेकर उक्त सामाजिक कुप्रथा को दूर करने के उपायों तक का वर्णन 'सेवासदन' में मिलता है। वैसे 'सेवासदन' में यह समस्या प्रेमचंद के दृष्टिकोण से अपने में पूर्ण है फिर भी 'गोदान' में एक-आध जगह इस प्रश्न पर चर्चा की गई है। 'सेवासदन' में प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, वहाँ वे सुधारवाद के चश्मे से सामाजिक विकृतियों का मूल्यांकन करते हैं, पर, आगे चलकर उनके विचार पर्याप्त क्रांतिकारी हो जाते हैं और वे समाज का मूल ढाँचा बदलने का आह्वान करते हैं। इस दृष्टि से 'सेवासदन' में व्यक्त विचारों के अतिरिक्त 'गोदान' में उक्त समस्या पर पाये जाने वाले विचार भी अपना महत्व रखते हैं। वरन् यों कहा जाय कि प्रेमचंद वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं की स्वयं ही, एक प्रकार से, आलोचना करते हैं। लेकिन इस आलोचना अथवा इन क्रांतिकारी विचारों से उनके पूर्व दृष्टिकोण का अस्तित्व समाप्त नहीं

हो जाता । यदि आगामी कृतियों में प्रेमचंद उतने ही विस्तार से, यथार्थवादी ढंग से उक्त समस्या को चित्रित करते तब निश्चय ही उनकी पूर्व मान्यताएँ महत्वहीन हो जातीं, पर, प्रेमचंद के उपन्यासों में यह बात नहीं पाई जाती । अतः सर्वप्रथम 'सेवासदन' में व्यक्त वेश्या-समस्या पर उनके दृष्टिकोण की व्याख्या आवश्यक है । आज भी अनेक सुधारवादी संस्थाएँ उनकी व्यावहारिकता में विश्वास रखती हैं । यद्यपि 'सेवासदन' उक्त समस्या पर प्रेमचंद के विचारों की सीमा नहीं है ।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में वेश्या-समस्या को इसलिए नहीं उठाया कि उससे उपन्यास सरस हो जायगा और उसकी बिक्री अधिक होगी । यौन-पीड़ित पाठकों को प्रेमचंद के 'सेवासदन' उपन्यास को पढ़ने के बाद बड़ी निराशा होगी । और न प्रेमचंद वेश्या-समस्या की जड़ में नारी-मनोविज्ञान की बारीकियों में ही उलझे हैं । उनका दृष्टिकोण विशुद्ध सामाजिक है । वे बताते हैं कि सामाजिक-आर्थिक कारण मिलकर मनुष्य के मन को बनाते हैं । अत: उन्होने किसी व्यक्ति विशेष को न लेकर विशिष्ट वर्ग को ही अपने सामने रखा है । प्रेमचंद के पात्रों का निजी व्यक्तित्व नितान्त स्वतंत्र नहीं होता । वे किसी वर्ग की समस्त दुर्बलताओं-सबलताओं को लेकर समारे सामने आते हैं । 'सेवासदन ' की 'सुमन' एक ऐसा ही पात्र है । प्रेमचंद ने कहीं भी वेश्या-जीवन के घिनौने रूप के चित्रण में रुचि लेना तो दूर उसका मात्र वर्णन तक नहीं किया है ।

उनका आदर्शवादी हृदय इन बातों को जान बूझकर छोड़ देता है । यदि वेश्या-जीवन के इस पहलू पर पृष्ठ के पृष्ठ लिख गये होते तो निश्चय ही 'सेवासदन' एक हल्का उपन्यास प्रमाणित होता । सामाजिक-स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यास आदर्श उपन्यास हैं । हो सकता है कि उनका आदर्शवाद कहीं-कहीं अस्वाभाविकता की सीमा को छूने लगा हो; जैसे 'सेवासदन' में सुमन का कथन, "यद्यपि इस काजल की कोठरी में आकर पवित्र रहना कठिन है, पर मैंने यह प्रतिज्ञा करली है कि अपने सतीत्व की रक्षा करूँगी, गाऊँगी, नाचूँगी, पर अपने को भ्रष्ट न होने दूँगी ।"[१] और प्रेमचंद ने 'सुमन' को निश्चय ही भ्रष्ट होने से बचा लिया है । औपन्यासिक कथा के आधार पर 'सुमन' के चरित्र पर कोई भी कलंक नहीं लगाया जा सकता । यह एक दोष होते हुए भी समस्यामूलक उपन्यासकार के लिये क्षम्य है, क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य समस्या के मूल कारणों और उसको सुलझाने के प्रयत्नों की ओर रहता है । यदि उसकी कृति उस समस्या को निबटाने के स्थान पर समाज में और फैलने को अवकाश दे, प्रोत्साहित करे, तो वह समस्यामूलक उपन्यासकार के पद का अधिकारी नहीं । 'सेवासदन' वेश्या-

१. सेवासदन—पृष्ठ ६२

समस्या के मूल कारणों पर ही विस्तार से प्रकाश नहीं डालता वरन् उस समस्या के हल के भी अनेक व्यावहारिक सुझाव उपस्थित करता है, जो एक सीमा तक समाजोपयोगी कहे जा सकते हैं, यद्यपि उनसे प्रस्तुत समस्या का अंतिम निदान संभव नहीं। स्वयं प्रेमचंद ने इस मत को 'गोदान' में प्रकट किया है।

स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति क्यों अपनाती हैं ? प्रेमचंद ने इस विषय पर निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख किया है—

वकील पद्मसिंह शर्मा 'सुमन' के वेश्या-वृत्ति अंगीकार करने पर अपने मन में सोचते हैं—

"यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकल कर उसे और कोई ठिकाना न रहा और क्रोध और कुछ नैराश्य की अवस्था में वह यह भीषण अभिनय करने पर बाध्य हुई।"[1]

बैंक घर के बाबू और समाज सुधारक बिट्ठलदास से स्वयं 'सुमन' वेश्या-वृत्ति अपनाने के मूल कारण पर चर्चा करती है, "आप सोचते होंगे कि भोग-विलास की लालसा से कुमार्ग में आई हूँ, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ...मैं जानती हूँ कि मैंने अत्यन्त निकृष्ट कर्म किया है। लेकिन मैं विवश थी, इसके सिवाय मेरे लिए और कोई रास्ता न था।... इतना तो आप जानते ही हैं कि संसार में सबकी प्रकृति एकसी नहीं होती ? कोई अपना अपमान सह सकता है। मैं एक ऊँचे कुल की लड़की हूँ, पिता की नादानी से मेरा विवाह एक दरिद्र मूर्ख मनुष्य से हुआ, लेकिन दरिद्र होने पर भी मुझसे अपना अपमान न सहा जाता था। जिसका निरादर होना चाहिए उसका आदर होते देखकर मेरे हृदय में कुवासनाएँ उठने लगती थीं। ...सम्भव था कि कालान्तर में यह अग्नि आप ही आप शान्त हो जाती, पर पद्मसिंह के जलसे ने इस अग्नि को भड़का दिया। ...पद्मसिंह के घर से निकल कर मैं भोली बाई की शरण में गई। मगर उस दशा में भी मैं इस कुमार्ग से भागती रही। मैंने चाहा कि कपड़े सीकर अपना निर्वाह करूँ, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अन्त में मुझे कुएँ में कूदना पड़ा। ......सुख न सही, यहाँ पर मेरा आदर तो है। मैं किसी की गुलाम तो नहीं हूँ।"[2]

यही बात आगे चलकर वह पद्मसिंह शर्मा से भी कहती है : "आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों ही को होती है, किन्तु दीन-दशा वाले प्राणियों को इसकी भूख और भी अधिक होती है, क्योंकि उसके पास इसके प्राप्त करने का कोई साधन नहीं होता। वे इसके लिए चोरी, छल-कपट सब कुछ कर बैठते हैं। आदर में वह संतोष है जो धन और भोग-विलास में भी नहीं है।

---

१. सेवासदन—पृष्ठ ८७

२. सेवादन ,,

मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला, लेकिन आपने होली वाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा। यदि मैं उस जलसे में न जाती तो आज मैं अपने झोंपड़े में सन्तुष्ट होती। आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी, इसलिए आपकी रसिकता का मुझ पर भी प्रभाव पड़ा। मोती बाई आपके सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसके सामने आदर और भक्ति की मूर्ति बने हुए थे। आपके मित्र-वृन्द उसके इशारों पर कठपुतली की भाँति नाचते थे। एक सरल हृदया आदर की अभिलाषिणी स्त्री पर इस दृश्य का जो फल हो सकता था वही मुझ पर हुआ।"[१]

अपनी बहन शांता के विवाह सम्बन्धी दुर्घटना पर सुमन अपने को दोषी ठहराती हुई पुनः अपनी इस अवस्था के मूल कारण पर प्रकाश डालती है: "अगर विलास की इच्छा और निर्दय अपमान ने उसकी लज्जा शक्ति को शिथिल न कर दिया होता तो वह कदापि घर से बाहर पाँव न निकालती। वह अपने पति के हाथों कड़ी-से-कड़ी यातना सहती और घर में पड़ी रहती। घर से निकलते समय उसे यह ख्याल भी न था कि मुझे कभी दालमंडी में बैठना पड़ेगा। वह बिना कुछ सोचे समझे घर से निकल खड़ी हुई। उस शोक और नैराश्य की अवस्था में वह भूल गई कि मेरे पिता हैं, बहन है।"[२]

इस प्रकार प्रेमचंद ने वेश्यावृत्ति के दो कारण प्रधान-रूप से बताये हैं। एक तो नारी के स्वाभिमान का कुचला जाना जिसकी जड़ में वैवाहिक-समस्या काम करती है; और दूसरा विलासी-जीवन के प्रति आकर्षण; जिसकी नींव में मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता निहित है। ऊपरी तौर पर देखने से, यह मालूम पड़ता है कि प्रेमचंद ने वेश्या-वृत्ति के आर्थिक पहलू को स्पर्श नहीं किया। कुछ विचारकों के मत से वेश्या-वृत्ति का मूल कारण आर्थिक है। सही है; पर प्रेमचंद के उपर्युक्त स्वाभिमान-रक्षावाले कारण और आर्थिक आधार में कोई मौलिक भेद नहीं है। बिना अपने पैरों पर खड़े हुए नारी स्वाभिमान से जीवित नहीं रह सकती। आदर और स्वाभिमान के पीछे आर्थिक आधार अवश्यंभावी है। जो स्त्रियाँ समाज मे अपनी आर्थिक समस्या हल नहीं कर सकतीं उन्हें अन्त में यही मार्ग अपनाना पड़ जाता है; क्योंकि दूसरी स्थिति में उन्हें अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। दूसरे, समाज दूषित होने के कारण, स्त्री स्वतंत्र रूप से आर्थिक दृष्टि से अपने को सुदृढ़ भी नहीं बना सकती, इसे हम प्रेमचंद-युग की सीमा भी कह सकते हैं; क्योंकि

१. वही पृष्ठ ११७
२. वही ,, २५५

आज समाज की ऐसी स्थिति नहीं है। आज नारी स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका के अनेक साधन खोज सकती है और स्वतंत्र रूप से पूर्ण स्वाभिमान के साथ जीवन यापन कर सकती है। 'सेवासदन' में 'सुमन' वेश्या-वृत्ति अपनाने के पूर्व ऐसा ही करती है, पर समाज उसे इस प्रकार जीवन व्यतीत करते नहीं देख पाता। अतः वेश्या-वृत्ति का आर्थिक कारण प्रेमचंद की दृष्टि से ओझल नहीं रहा है।

इस स्थल पर वेश्या-वृत्ति के उन सभी कारणों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है जो समय-समय पर अनेक विचारकों ने उपस्थित किये हैं। उनके उपन्यासों में आई अन्य समस्याओं की तरह हमें केवल यह देखना है कि प्रेमचंद उक्त समस्या के प्रति अपने क्या विचार रखते थे तथा उन्होंने उसके हल की दिशा में कौन-कौन से सुझाव अपने उपन्यासों में हमें दिये हैं।

व्यक्तिगत रूप से वेश्याओं के प्रति प्रेमचंद बड़े उदार हैं। उन्होंने कभी भी इस वर्ग की निन्दा नहीं की है; कहीं भी घृणा के भाव व्यक्त नहीं किये हैं। समाज के उपेक्षित, बहिष्कृत और शोषित वर्गों के प्रति प्रेमचंद के हृदय में अपार सहानुभूति है। वे किसी व्यक्ति विशेष के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न नहीं करते वरन् दूषित प्रथा के विरुद्ध सशक्त ढंग से लिखते हैं। पाठक उस प्रथा विशेष से घृणा करने लगता है न कि किसी पात्र विशेष से। वेश्या-वृत्ति के विरुद्ध प्रेमचंद ने बड़ी कठोरता से लिखा है लेकिन वेश्याओं को बुरा भला नहीं कहा है। यही नहीं उन्होंने औरों को भी स्पष्ट कहा है कि वे वेश्याओं को दोषी ठहराने के अधिकारी नहीं; क्योंकि वेश्या-वृत्ति समाज के पापों का ही फल है। पद्मसिंह शर्मा उक्त विषय पर भाषण करते हुए कहते हैं, "........हमने वेश्याओं को शहर के बाहर रखने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया कि हमें उनसे घृणा है। हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दाल-मंडी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लायें, उनके जीवन को सुधारें और यह तभी हो सकता है, जब वे शहर से बाहर दुर्व्यसनों से दूर रहें। हमारे सामाजिक दुराचार अग्नि के समान हैं, और ये अभागिन रमणियाँ तृण के समान। अगर अग्नि को शान्त करना चाहते हो तो तृण को उससे दूर कर दीजिये, तब अग्नि आप ही आप शान्त हो जायगी।"[1] सदन वेश्याओं की स्थिति पर विचार करता है, "हाँ, ये स्त्रियाँ बहुत ही सुन्दर हैं, बहुत ही कोमल हैं, पर उन्होंने अपने

१. सेवासदन—पृष्ठ २१५-१६

इन स्वर्गीय गुणों का कैसा दुरुपयोग किया है । उन्होंने अपनी आत्मा को कितना गिरा दिया है । हाँ ! केवल इन रेशमी वस्त्रों के लिये, इन जगमगाते हुए आभूषणों के लिये उन्होंने अपनी आत्माओं का विक्रय कर डाला है । वे आँखें जिनसे प्रेम की ज्योति निकलनी चाहिये थी, कपट-कटाक्ष और कुचेष्टाओं से भरी हुई हैं । .....कितनी अधोगति है ।"[1] पद्मसिंह एक और स्थल पर कहते हैं, "आप अगर एक घंटे के लिए मेरे साथ दालमंडी चलें तो आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप ज्वालामुखी पर्वत समझ बैठे हैं वह केवल बुझी हुई आग का ढेर है । अच्छे और बुरे आदमी सब जगह होते हैं । वेश्याएँ भी इस नियम से बाहर नहीं हैं । आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी धार्मिक श्रद्धा, पाप जीवन से कितनी घृणा, अपने जीविकोद्धार की कितनी अभिलाषा है । ....उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता है जिसे पकड़ कर वह बाहर निकल आवें ।"[2] और आगे चलकर प्रेमचंद सुमन को विदुषी बनाकर दिखाते हैं, सुभद्रा सोचती है, "सुमन इतने नीचे गिर कर कैसे ऐसी विदुषी हो गई कि पत्रों में उसकी प्रशंसा छपती है ।"[3] इस प्रकार प्रेमचंद वेश्याओं के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं करते वरन् उन्हें सुधार की दिशा में ले जाकर समाज में, वेश्या बनने के पूर्व से कहीं अधिक, प्रतिष्ठित रूप में दिखाते हैं । वे समाज से वेश्या-वृत्ति को समाप्त कर देना चाहते हैं; जिस समाज में वेश्यावृत्ति को स्थान दिया जाता है वह सभ्य नहीं कहा जा सकता । वेश्या-वृत्ति को मिटाने की क्रिया में वेश्याओं को कष्ट पहुँच सकता है, पहुँचता है, पर उसके पीछे पुनीत उद्देश्य छिपा हुआ है । पद्मसिंह वेश्या-वृत्ति को समाप्त करने के निमित्त प्रस्तुत प्रस्ताव पर कहते हैं, "इस प्रस्ताव से हमारा उद्देश्य वेश्याओं को कष्ट देना नहीं वरन् उन्हें सुमार्ग पर लाना है ।"[4]

वेश्या-समस्या के हल और वेश्या-वृत्ति समाप्त करने के उद्देश्य से 'सेवासदन' में प्रेमचंद ने पर्याप्त सशक्त तर्कों के साथ अनेक उपाय सुझाये हैं । पन्द्रहवें परिच्छेद में वेश्याओं की बस्ती को नगर से बाहर बसाने पर जोर देते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, "जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न वासनाओं का प्राबल्य रहता है । बचपन मिठाइयों का समय है, बुढ़ापा लोभ का, यौवन प्रेम और लालसाओं का समय है । इस अवस्था में मीना बाजार की सैर मन में विप्लव मचा देती है । जो सुदृढ़ हैं, लज्जाशील या भावशून्य हैं वह सँभल जाते हैं । शेष फिसलते हैं और गिर पड़ते हैं ।

---

१. सेवासदन—पृ० २१६-२०
२. „ „ ३११
३. „ „ ३५१
४. „ „ २६६

शराब की दुकानों को हम बस्ती से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं, जुए खाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दुकानों को हम सुसज्जित कोठों पर चौक बाजार में ठाट से सजाते हैं। यह पापोत्तेजना नहीं तो और क्या है ?

........इसलिए आवश्यकता है कि इन विष भरी नागिनों को आबादी से दूर, किसी पृथक स्थान में रखा जाय। तब उन निन्द्य स्थानों की ओर सैर करने जाते हुए हमें संकोच होगा। यदि यह आबादी से दूर हों और वहाँ घूमने के लिए किसी बहाने की गुंजाइश न हो तो ऐसे बहुत कम बेहया आदमी होंगे जो इस मीना-बाजार में कदम रखने का साहस करें।"[1] तीसरे परिच्छेद में यही बात बिट्ठलदास कहता है। प्रेमचंद बिट्ठलदास के मुख से भी अपना उद्देश्य स्पष्ट घोषित करते हैं, "मेरा पहला उद्देश्य है, कि वेश्याओं को सार्वजनिक स्थानों से हटाना और दूसरा वेश्याओं की नाचने-गाने की रस्म को मिटाना।"[2] यहाँ वेश्याओं की बस्ती को नगर से हटाने के अतिरिक्त प्रेमचंद वेश्याओं के नाच-गाने की रस्म को भी मिटाना चाहते हैं; जिससे वेश्या-समस्या के सुधार व हल में सहायता मिल सके। मात्र सूत्र रूप में न लिख कर प्रेमचंद अपने विचारों की व्याख्या भी करते हैं। पद्मसिंह शर्मा नाच गाने की प्रथा के मिटाने के संबंध में अपनी शंका व्यक्त करते हैं, "लेकिन यहाँ मुझे एक शंका होती है। आखिर हम लोगों ने भी तो शहरों ही में इतना जीवन व्यतीत किया है, हम लोग इन दुर्वासनाओं में क्यों नही पड़े ? नाच भी शहर में आये-दिन हुआ ही करते हैं, लेकिन उनका ऐसा भीषण परिणाम होते बहुत कम देखा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस विषय में मनुष्य का स्वभाव ही प्रधान है। आप इस आन्दोलन से स्वभाव तो नहीं बदल सकते।"[3] प्रेमचंद ने यहाँ अपनी स्वयं आलोचना करके यह बताया है कि उपर्युक्त सुझाव प्रस्तुत समस्या का आंशिक हल है; लेकिन ऐसा करने से तो कुछ हाथ लगेगा ही अतः वे पूर्ण हल के अभाव में आंशिक हल की उपेक्षा स्वीकार नहीं करते। बिट्ठलदास कहते हैं, "हम तो केवल उन दशाओं का संशोधन करना चाहते हैं जो दुर्बल स्वभाव के अनुकूल हैं।"[4]

'सेवासदन' का अट्ठाइसवाँ-परिच्छेद तो पूरा प्रस्तुत समस्या से सम्बन्धित वाद-विवाद से भरा हुआ है। प्रेमचंद ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि वास्तव में वे लोग कौन हैं जो वेश्याओं को नगर में बनाए रखना चाहते हैं; और जब-जब कोई समाज-सुधार का आन्दोलन सामने आता है तब-तब वे ही लोग, सभी संभव उपायों से, उनका विरोध करते हैं। यहाँ तक कि उसे साम्प्रदायिक रूप तक देने में संकोच नहीं

१. सेवासदन—पृष्ठ ८१ से ८३
२. सेवादन—पृ० १२७
३. वही „ १२७
४. „ „ १२८

करते। प्रेमचंद लिखते हैं, "शहर की म्युनिसिपैलिटियों में कुल १८ सभासद थे। उनमें ८ मुसलमान थे और १० हिन्दू। सुशिक्षित मेम्बरों की संख्या अधिक थी, इसलिए शर्मा जी को विश्वास था कि म्युनिसिपैलिटी में वेश्याओं को नगर से बाहर निकाल देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। वे सब सभासदों से मिल चुके थे और इस विषय में उनकी शंकाओं का समाधान कर चके थे, लेकिन मेम्बरों में कुछ ऐसे सज्जन भी थे जिनकी ओर से घोर विरोध होने का भय था। ये लोग बड़े व्यापारी, धनवान और प्रभावशाली मनुष्य थे।"[1] और तेलके कारखोने का मालिक मुन्शी अबुल वफा मुसलमानों के प्रतिनिधि हाजी हाशिम का समर्थन करता हुआ कहता है, "यह हमारी तादाद को घटाने की सरीह कोशिश है। तवायफें ९० फीसदी मुसलमान हैं; जो रोजे रखती हैं, इजाजदारी करती हैं, मौलूद और उर्स करती हैं। हमको उनके जाती फैलों से कोई बहस नहीं है। नेक व बद की सजा व जजा देना खुदा का काम है। हमको तो सिर्फ उनकी तादाद से गरज है।"[2] लेकिन समाज का एक वर्ग ऐसा भी है जो इन समाज-विरोधी तत्त्वों का स्पष्ट विरोध करता है। पेंशनर डिप्टी कलेक्टर सैयद शफकत अली कहते हैं, "अगर इन तवायफों की दीनदारी के तुफेल में सारे इसलाम को खुदा जन्नत अता करे तो मैं दोजख में जाना पसन्द करूँगा। अगर उनकी तादाद की बिना पर हमको इस मुल्क की बादशाही भी मिलती हो तो मैं कबूल न करूँ। मेरी राय तो यह है कि इन्हें मरकजी शहरहों से नहीं, हुदूद शहर से खारिज कर देना चाहिए।"[3] हकीम शोहरत खाँ कहते हैं, "जनाब, मेरा बस चले तो मैं इन्हें हिन्दुस्तान से निकाल दूँ, इनसे एक जजीरा अलग आबाद करूँ। मुझे इस बाजार के खरीददारों से अक्सर साबिका रहता है। अगर मेरे महजबी अकायद में फर्क न आये तो मैं तो यह कहूँगा कि तवायफें हैजे और ताऊन का अवतार हैं। हैजा दो घण्टे में काम कर देता है, प्लेग दो दिन में, लेकिन यह जहन्नुमी हस्तियाँ रुला-रुला कर और घुला-घुलाकर मारती हैं। मुन्शी अबुल वफा साहब उन्हें जन्नती हूर समझते हों, लेकिन ये वे काली नागिनें हैं जिनकी आँखों में जहर है। ये वे चश्मे हैं जहाँ से जरायम के सोते निकलते हैं। कितनी ही नेक बीवियाँ उनकी बदौलत खून के आँसू रो रही हैं। कितने ही शरीफजादे उनकी बदौलत खस्ता व ख्वार हो रहे हैं। यह हमारी बदकिस्मती है कि बेशतर तवायफें अपने को मुसलमान कहती हैं।"[4] वकील शरीफ़ हसन के मत से—"इसमें तो कोई बुराई नहीं कि वह अपने को मुसलमान

---

१. सेवासदन—पृष्ठ १७०-१७१
२. वही „ १७२
३. „ „ १७३
४. वही „ १७३

कहती हैं, बुराई यह है कि इसलाम भी उन्हें राहे रास्ते पर लाने की कोई कोशिश नहीं करता। हिन्दुओं की देखा-देखी इसलाम ने भी उन्हें अपने दायरे से खारिज कर दिया है। जो औरत एक बार किसी वजह से गुमराह हो गई, उसकी तरफ से इसलाम हमेशा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेता है।"[1] और आगे चलकर प्रेमचन्द समस्या का ७५ फीसदी हल प्रस्तुत करते हैं। शरीफ हसन कहते हैं—"अगर उन लड़कियों की नाजायज तौर पर शादी हो सके तो, और इसके साथ ही उनकी परवरिश की सूरत भी निकल आये तो मेरे ख्याल में ज्यादा नहीं तो ७५ फीसदी तवायफें इसे खुशी से कबूल कर लें।"[2] और इसी को लेकर म्युनिसिपल-बोर्ड में पद्मसिंह अपना प्रस्ताव उपस्थित करते हैं जो तीन भागों में विभक्त है:—

"(१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थान से हटा कर बस्ती से दूर रखा जाय, (२) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में जाने का निषेध किया जाय, (३) वेश्याओं का नाच कराने के लिये एक भारी टैक्स लगाया जाय, और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।"[3]

इस प्रस्ताव में आर्थिक पहलू पर कोई विचार नहीं किया गया है और इस प्रकार का यह प्रस्ताव, ७५ फीसदी से भी कम, प्रस्तुत समस्या के हल की दिशा में कारगर सिद्ध हो सकेगा। प्रेमचन्द ने आर्थिक पहलू पर दृष्टि तो रखी है पर वे उसका कोई व्यावहारिक रूप सामने नहीं ला सके हैं। जीवन-निर्वाह की दृष्टि से प्रेमचन्द वेश्या-समस्या का वैयक्तिक हल प्रस्तुत करते हैं जो महत्त्वहीन है। सुमन कहती है—"मैं सुख और आदर दोनों ही को छोड़ती हूँ, पर जीवन-निर्वाह का तो कुछ उपाय करना पड़ेगा?...कोई ऐसा हिन्दू-जाति का प्रेमी है जो मेरे गुजारे के लिए ५०) रुपये मासिक देने पर राजी हो?"[4] और आगे चल कर प्रेमचन्द इस आर्थिक सहायता की व्यवस्था करवा देते हैं। बिट्ठलदास सुमन से कहते हैं—"मुझसे तो कुछ नहीं हो सका लेकिन पद्मसिंह ने लाज रख ली। उन्होंने तुम्हारा प्रण पूरा कर दिया। वह अभी मेरे पास आये थे और वचन दे गये हैं कि तुम्हें ५०) मासिक आजन्म देते रहेंगे।"[5]

समाज में ऐसे पद्मसिंह कितने मिल सकते हैं? स्पष्ट है, वेश्या-जीवन की आर्थिक समस्या के हल की दिशा में यह कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं सुझाता। इस प्रकार 'सेवासदन' ७५ फीसदी से भी काफी कम प्रस्तुत समस्या के हल को

---

१. सेवासदन—पृ० १७३
२. „ „ १७४
३. „ „ २६७-६८
४. „ „ ६३
५. „ „ १२६

हमारे सामने लाता है। वास्तव में; आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र जीवन यापन की व्यवस्था प्रेमचन्द अपने समय के समाज में नहीं देख सके। यह एक ऐतिहासिक सीमा है, इससे प्रेमचन्द को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह तो उनकी यथार्थता को बल ही पहुँचाता है।

"सेवा-सदन" के बाद "गोदान" में वह ७५ फीसदी से कम हल भी समाप्त हो जाता है और प्रेमचन्द समाज का ढाँचा समूल बदलने की घोषणा करते हैं। बत्तीसवें परिच्छेद में मिर्जा साहब और मेहता साहब की बातचीत ध्यान देने योग्य है। मिर्जा साहब की धारणा थी, "रूप के बाजार में वही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता, या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती हैं, और अगर यह दोनों प्रश्न हल कर दिये जायँ, तो बहुत कम औरतें इस भाँति पतित हों।"

मेहता का मत था, "मुख्यतः मन के संस्कार और भोग-लालसा ही औरतों को इस ओर खींचती है।" इसी बात पर दोनों बहस करते हैं, जिसका अन्त इन शब्दों से होता है—

जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं।"[१] कहाँ "गोदान" का विषय और कहाँ वेश्या-समस्या। प्रेमचन्द को जहाँ भी अवसर मिला है उन्होंने विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार स्वतन्त्रता से व्यक्त किए हैं। ऐसे अवसरों पर वे औपन्यासिक रचना-तन्त्र के शास्त्रीय नियमों के पालन की चिन्ता नहीं करते। ये सभी बातें उनको समस्यामूलक उपन्यासकार सिद्ध करती हैं।

---

१. गोदान पृष्ठ ४४४-४४५

विधवा-समस्या

आज हिन्दू-समाज में विधवा-समस्या अपने भयंकर रूप में उपस्थित है। यों तो वर्तमान हिन्दू-समाज में समग्र नारी-जीवन पुरुष-वर्ग की तिरस्कार, दमन, तथा उपेक्षा-भावना का शिकार है, लेकिन सबसे अधिक अत्याचार और शोषण की प्रतिमूर्ति एक मात्र विधवा ही है। विधवा का यह दयनीय जीवन विशेषकर मध्यमवर्गीय परिवारों में बड़ा ही करुण है। किसी भी देश की उन्नति के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है कि उसमें बसनेवाली प्रत्येक स्त्री और पुरुष को एक से सामाजिक अधिकार प्राप्त हों, स्त्री और पुरुष के शारीरिक तथा मानसिक विकास की आवश्यकताएँ सहज में पूर्ण हो सकें। इसका अभिप्राय नैतिक आचारों की अवहेलना नहीं है। समाज-व्यवस्था जब दूषित होती है तब समाज-विरोधी शक्तियाँ नैतिकता की थोथी आवाज़ लगा कर समाज के गतिशील, चेतन एवं विकासशील तत्त्वों के मार्ग में रुकावट का काम करती अवश्य हैं, पर वे उन्हें पराभूत नहीं कर सकतीं। प्रत्येक प्रगतिशील लेखक का यह विश्वास समाज की इसी दुर्दमनीय शक्ति से पुष्ट होता है और वह विकासोन्मुख तत्त्वों को समझने में तथा उन्हें सहायता देने में कोई कमी नहीं उठा रखता। प्रेमचन्द को समाज के ऐसे तत्त्वों की बड़ी सूक्ष्म पहचान थी।

विधवा को समाज का उपेक्षित, पददलित तथा तिरस्कृत अंग समझने वाले पोंगा-पंथियों को एवं विधवा को अपनी कामुकता तथा वासना का सहज-सुलभ पात्र समझनेवाले दरिन्दों को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नंगा करके बताया है। उनकी घृणित से घृणित कार्रवाइयों तथा टीका-टिप्पणियों को यथार्थ रूप में उपस्थित किया है। उन पर किसी आदर्श का आवरण नहीं है। विधवा-जीवन की विवशताएँ, उन पर होनेवाले अत्याचार तथा उनके लिये सम्मानपूर्ण वातावरण बनाने के उपाय—सभी बातों का वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। विधवा के प्रति उनके हृदय में बड़ा दर्द था, जो जगह-जगह ज्वालामय शब्दों के रूप में अंकित हो गया है।

विधवा-जीवन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने अपने 'प्रतिज्ञा' नामक उपन्यास में

विस्तार से लिखा है, वस्तुतः 'प्रतिज्ञा' की मुख्य समस्या विधवा-समस्या ही है। इसके अतिरिक्त 'वरदान', 'निर्मला' और 'कर्मभूमि' में भी जगह-जगह वैधव्य के सम्बन्ध में चर्चा है। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा, 'वरदान' की बृजरानी, 'कर्मभूमि' की रेणुका, "निर्मला' की कल्याणी व रुक्मणी सभी अभिशापित जीवन का बोझ ढो रही हैं। इन विधवाओं के माध्यम से प्रेमचन्द विधवा-समस्या का उद्घाटन करते हैं और जैसा कि उनका स्वभाव था वे समस्या के उद्घाटन से ही सन्तुष्ट नहीं होते थे वरन् उसका कोई-न-कोई हल भी प्रस्तुत करते थे। विधवा-समस्या के सम्बन्ध में भी यह हल उपस्थित किया गया है। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या प्रमुख है, 'वरदान' व 'निर्मला' (१९२७) में गौण और 'कर्मभूमि' (१९३२) में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न विधवा होने के कारण नगण्य ही है। आगे चल कर प्रेमचन्द बड़े प्रश्नों की ओर उन्मुख हो जाते हैं जिनको हल कर लेने पर छोटी-छोटी समस्याएँ सुगमता से निबटाई जा सकती हैं। वे वर्तमान पूँजीवादी समाज-व्यवस्था पर ही सीधा प्रहार करते हैं। जब तक पुरुष की नारी पर प्रभुता बनी रहेगी वह उसे अपने गर्हित स्वार्थ के लिये कभी भी मुक्त नहीं होने देगा। आवश्यकता सामाजिक-व्यवस्था के समूल परिवर्तन की है। शताब्दियों से चले आए हुए कुसंस्कारों को जब तक जड़ से उखाड़ कर फेंक नहीं दिया जाता तब तक सुधारवादी ढंग से समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं। जैसे-जैसे प्रेमचन्द के विचारों में तीव्रता आती गई, साधारण समस्याएँ, चाहे वे कितनी ही भयावह क्यों न हों, प्रमुख न रहकर उनको जन्म देनेवाली मूल सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ ही आगे आती गई। यही कारण है कि 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या जिस कटुता तथा प्रमुखता के साथ सामने रखी थी, वह आगे चलकर गौण हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि विधवा-समस्या का प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है और यह आर्थिक विषमता वर्तमान समाज-व्यवस्था पर आश्रित है। जब तक भारतीय जीवन के सामाजिक संगठन में आधारभूत परिवर्तन नहीं होते, ये समस्याएँ उचित ढंग से सुलझ नहीं सकतीं।

'वरदान' में जब बिरजन का सुहाग लुट जाता है, तब एक तरह से उसका जीवन ही मिट्टी में मिल जाता है। जैसे कि हिन्दू स्त्री का कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। पति ही उसके अस्तित्व का सूचक है। विधवा का जीवन हिन्दू-समाज में पशुओं से भी गया बीता है। हिन्दू स्त्री के जीवन की प्रत्येक गतिविधि पति के चारों ओर ही केन्द्रित रहती है। उसकी मृत्यु के बाद वह अपमानित और पराजित जीवन के धुंधलके में या तो रामभजन करे या आत्म-हत्या।

कमलाचरण की अकाल मृत्यु पर वृजरानी की दुःख-दशा का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—"सौभाग्यवती स्त्री के लिये उसका पति संसार की

सबसे प्यारी वस्तु होती है। वह उसी के लिये जीती है और उसी के लिए मरती है। उसका हँसना बोलना उसी के प्रसन्न करने के लिये और उसका बनाव शृंगार उसी को लुभाने के लिये होता है। उसका सोहाग उसका जीवन है, और सोहाग का उठ जाना उसके जीवन का अन्त है।"[१]

'प्रतिज्ञा' में पूर्णा की कहानी विधवा-जीवन का हृदय विदारक चित्र उपस्थित करती है। ठीक पति की मृत्यु के पश्चात् पूर्णा किस तरह से हिन्दू-समाज के धर्मध्वजियों, पोंगा-पंथियों तथा विधवाओं की अस्मत से खेलने वालों की शिकार बनती है, यह सब इतने यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया गया है कि विधवा-जीवन की सारी दयनीयता, सारी विवशता एवं सारी दुर्बलता को सामने ला देता है। पूर्णा का जीवन एक दर्पण है जिसमें हिन्दू-विधवा का यथार्थ स्वरूप देखा जा सकता है।

कमलाप्रसाद, पूर्णा के पति पं० वसन्तकुमार का मित्र है। वसन्तकुमार की मृत्यु के बाद वह अपने दकियानूस पिता बदरीप्रसाद से राय लेकर पूर्णा की सहायता करने जाता है। पूर्णा के माँ-बाप पहले ही मर चुके थे। मामा ने किसी प्रकार विवाह किया था। ससुराल में भी कोई सगा न था। ऐसी स्थिति में पड़ोसी-धर्म के नाते बदरीप्रसाद उसके पालन-पोषण का कुछ प्रबन्ध करना चाहते हैं और उसे अपने घर में ही रखने का प्रस्ताव रखते हैं। यह प्रस्ताव कमलाप्रसाद को अच्छा नहीं लगता क्योंकि उसमें आर्थिक हानि थी। फिर भी पिता के भय के कारण वह पूर्णा के घर पहुँचता है; लेकिन यही सोच कर कि किसी भाँति पूर्णा को यहाँ से टाल दूँ, मैके चले जाने के लिये प्रेरित करूँ। प्रेमचन्द लिखते हैं,—"उसे इसकी जरा भी चिन्ता न थी कि इस अबला का भविष्य क्या होगा। उसका निर्वाह कैसे होगा, उसकी रक्षा कौन करेगा, उसका उसे लेशमात्र भी ध्यान न था।"[२] और जब वह पूर्णा को देखता है, उसकी कृतज्ञता और विनय से भरी हुई सजल आँखों को देखता है, उसकी सरल निष्कलंक, दीनमूर्ति को देखता है तो अपनी कुटिलता पर क्षणिक लज्जित होता है। लेकिन उसकी यह लज्जा पूर्णा के सौन्दर्य और यौवन को देखकर छूमन्तर हो जाती है और अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये वह बड़ी-बड़ी बातें करके सीधी और मूक पूर्णा को अपने घर ले जाने के लिए राजी कर लेता है। समाज में दूसरों की दुर्बलताओं और विवशताओं से लाभ उठाने वाले विधवाओं को पहले अपना लक्ष्य बनाते हैं। सीधी स्त्रियाँ उनकी प्रशंसात्मक छल भरी बातों में आसानी से फँस जाती हैं। पूर्णा भी कमलाप्रसाद के जाल में धीरे-धीरे फँसने लगती है। प्रेमचन्द

---

१. बरदान पृष्ठ ११५
२. प्रतिज्ञा पृष्ठ २५

लिखते हैं, "आश्रयविहीन अबला के लिये इस समय तिनके का सहारा ही बहुत था, तो वह नौका की कैसे अवहेलना करती, पर वह क्या जानती थी कि यह उसे उबारनेवाली नौका नहीं, वरन् एक विचित्र जलजन्तु है, जो उसकी आत्मा को निगल जायगा।"[१] और आगे चलकर यही होता है। पूर्णा और कमलाप्रसाद की पत्नी सुमित्रा के बीच साड़ी के प्रश्न पर सन्देह का वातावरण बन जाता है। कुवासनाओं में लिपटा हुआ कमलाप्रसाद सुमित्रा का अपमान करता है और दिन-रात पूर्णा के फँसाने के कुचक्र रचता रहता है। सुमित्रा पूर्णा को एक स्थान पर सचेत भी करती है, जब पूर्णा कमलाप्रसाद के बारे में कहती है—

"बहन, तुम कैसी बातें करती हो ? एक तो ब्राह्मणी, दूसरे विधवा, फिर नाते से बहन, मुझे यह क्या कुदृष्टि से देखेंगे ? फिर उनका कभी ऐसा स्वभाव नहीं रहा।

सुमित्रा पान लगाती हुई बोली, "स्वभाव की न कहो पूर्णा, स्वभाव किसी के माथे पर नहीं लिखा होता। जिन्हें तुम बड़ा संयमी समझती हो, वह छिपे रुस्तम होते हैं। उनका तीर मैदान में नहीं, घर में चलता है।"[२]

पूर्णा सोचती है—"वैधव्य क्या कलंक का दूसरा नाम है।" प्रेमचन्द विधवा की दयनीयता के सम्बन्ध में लिखते हैं, "विधवा पर दोषारोपण करना कितना आसान है। जनता को उसके विषय में नीची से नीची धारणा करते देर नहीं लगती। मानो कुवासना ही वैधव्य की स्वाभाविक वृत्ति है। मानो विधवा हो जाना, मन की सारी दुर्वासनाओं, सारी दुर्बलताओं का उमड़ आना है।"[३]

पराधीन पूर्णा धीरे-धीरे कमलाप्रसाद के चंगुल में आने लगती है। और एक रात उसकी कामुकता का शिकार होते-होते बचती है। पूर्णा के ये शब्द विधवा के अभिशप्त जीवन की विभीषिका को कितना स्पष्ट कर देते हैं, "अब जाने दो बाबू जी, क्यों मेरा जीवन भ्रष्ट करना चाहते हो, तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए सब कुछ माफ है, मैं औरत हूँ, मैं कहाँ जाऊँगी ? डूब मरने के सिवा मेरे लिए कोई उपाय न रह जायगा। मैं तो आज मर भी जाऊँ तो किसी की कोई हानि न होगी, वरन् पृथ्वी का कुछ बोझ ही हलका होगा।"[४] पूर्णा का जीवन एक समस्या बन जाता है। और वह उस घर से निकल जाने का निश्चय करती है—"संसार में लाखों विधवाएँ पड़ी हैं, क्या सभी के रक्षक बैठे हैं ? किसी भाँति

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ २७
२. प्रतिज्ञा पृष्ठ ५६
३. प्रतिज्ञा पृष्ठ ५४
४. प्रतिज्ञा पृष्ठ ६३-६४

उनके दिन भी कटते ही हैं। मेरे भी उसी भाँति कट जायेंगे। और फिर कहीं आश्रय नहीं है, तो गंगा तो कहीं नहीं गई है।"[१] वह विधवा-आश्रम जाने का निश्चय करती है लेकिन झमेला बढ़ने के भय से रुक जाती है। वह सोचती है, "तरह-तरह के सन्देह लोगों के मन में पैदा होंगे। अभी कम से कम लोगों को मुझ पर दया आती है, फिर तो कोई बात भी न पूछेगा। विधवा को कुलटा बनते कितनी देर लगती है?"[२] निदान वह वहीं, उसी वातावरण में ही रहती है। कमलाप्रसाद जब छल-बल से पूर्णा का सतीत्व हरण नहीं कर पाता तब वह उसे धोखे से एकान्त बँगले में ले जाता है और वहाँ बलात्कार करने को उद्यत होता है। पूर्णा कमलाप्रसाद को घायल कर देती है और बँगले से बाहर सड़क पर निकल आती है। प्रेमचन्द विधवा के करुण जीवन का यहाँ चरमोत्कर्ष ला देते हैं। वे कहते हैं, "अब उसके लिये कहाँ आश्रय था? एक ओर जेल की दुस्सह यंत्रणाएँ थीं, दूसरी ओर रोटियों के लाले, आँसुओं की धार और घोर प्राण पीड़ा। ऐसे प्राणी के लिये मृत्यु के सिवा और कहाँ ठिकाना है।"[३] पूर्णा के जीवन की निराशा अपने अन्तिम छोर पर पहुँच जाती है। वह सोचती है, "अपने पति के बाद ही उसने क्यों न प्राणों का त्याग किया? क्यों न उसी शव के साथ सती हो गई? इस जीवन से तो सती हो जाना कहीं अच्छा था।"[४]

यह सब "प्रतिज्ञा" की कथा और "पूर्णा" की कहानी है। यह केवल "पूर्णा" की ही जीवन-कहानी नहीं है, वरन् हजार-हजार हिन्दू-नारियों की कहानी है। युवा विधवा हिन्दू-समाज में एक बहुत बड़ी समस्या है। प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे, अतः उन्होंने इस सामाजिक समस्या को भी पूरी उग्रता और भीषणता से उपस्थित किया है। कमलाप्रसाद और कमलाप्रसाद से भी अधिक घृणित मनोवृत्तिवाले मनुष्यों का समाज में अभाव नहीं है। विधवाओं को ऐसा समाज व्यभिचार तथा वेश्यावृत्ति का पात्र समझता है। अथवा सम्भ्रान्त परिवारों में आर्थिक विवशता में विधवाएँ अपमानित जीवन का बोझ ढोती हैं। "निर्मला" में रुक्मणी का जीवन क्या है? रुक्मणी मुंशी तोताराम की विधवा बहन है। वह उन्हीं के यहाँ रहती है। पारिवारिक जीवन में कभी-कभी कलह पैदा हो ही जाती है। ऐसे अवसरों पर व्यक्ति के मनोभाव अपने यथार्थ नग्न स्वरूप में देखने को मिलते हैं। मुंशी तोताराम अपनी बहन के सम्बन्ध में जो भाव रखते हैं वे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"मैंने तो सोचा था कि विधवा

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ९९
२. प्रतिज्ञा पृष्ठ १००
३. प्रतिज्ञा पृष्ठ १२१
४. प्रतिज्ञा पृष्ठ १२१

है, अनाथ है, पाव भर आटा खायगी, पड़ी रहेगी। जब और नौकर-चाकर खा रहे हैं, तो यह अपनी बहिन ही है। लड़कों की देखभाल के लिये एक औरत की जरूरत भी थी, रख लिया, लेकिन इसके यह माने नहीं है कि वह तुम्हारे ऊपर शासन करे।"[१] सहोदर विधवा बहन को दासी के रूप में देखना विधवा का कितना बड़ा मजाक है। जब घर के घर में भाई के द्वारा विधवा-बहन तिरस्कृत हो सकती है तो फिर नाना कुसंस्कारों से ग्रस्त समाज में उसके लिये क्या स्थान हो सकता है?

विधवा-समस्या ने समाज में अन्य समस्याओं को भी जन्म दिया है। अनेक सामाजिक कुरीतियाँ जो हिन्दू-समाज में फैली हुई हैं, एक सीमा तक, विधवा-समस्या हल हो जाने पर दूर हो सकती हैं। विधवा-समस्या वेश्या-समस्या को परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से बल पहुँचाती है। आर्थिक दृष्टि से तंग विधवा के यदि दो-तीन युवा लड़कियाँ हों तब तो यह समस्या और भी भयावह हो जाती है। ऐसी स्थिति में अनमेल विवाह का प्रचलन बढ़ जाता है अथवा अनेक लड़कियाँ आजन्म अविवाहित रह जाती हैं अथवा कुछ दुर्बल लड़कियाँ समाज की कुवासना की शिकार हो जाती हैं। प्रायः ऐसे समाचार दैनिक पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। 'निर्मला' में कल्याणी ऐसी ही विधवा है जिसके दो लड़कियाँ हैं। निर्मला और कृष्णा। पति की मृत्यु के समय निर्मला पन्द्रह वर्ष की और कृष्णा दस वर्ष की थी। कल्याणी जो विधवा हो जाती है, उसकी समस्या यहाँ पर गौण है, लेकिन उससे उत्पन्न जटिल समस्या उसकी पुत्रियों के विवाह की है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "दरिद्र विधवा के लिये इससे बड़ी और क्या विपत्ति हो सकती है कि जवान बेटी सिर पर सवार हो? लड़के नंगे पाँव पढ़ने जा सकते हैं, चौका-बर्तन भी अपने हाथ से किया जा सकता है, रूखा-सूखा खाकर निर्वाह किया जा सकता है, झोंपड़े में दिन काटे जा सकते हैं, लेकिन युवती कन्या घर में नहीं बिठाई जा सकती।"[१] और अन्त में निर्मला का विवाह एक दोहाजू से होता है। यह विवाह निर्मला की आशाओं, अभिलाषाओं को जीवन की सारी हँसी-खुशी को मिट्टी में मिला देता है। इस तरह प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

अब प्रश्न यह आता है कि इस समस्या का क्या हल है। प्रेमचन्द ने समस्या की गम्भीरता को ही हमारे सामने नहीं रखा है वरन् उसके हल के सम्बन्ध में भी अपने विचार दिये हैं। वस्तुतः देखा जाय तो विधवा-समस्या के हल न होने का मुख्य कारण आर्थिक है। विधवा की सबसे बड़ी समस्या यौन-सम्बन्धी नहीं है—जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं, विधवा विवाह यौन सम्बन्धी वासनाओं

---

१. निर्मला पृष्ठ ४०

की पूर्ति के निमित्त नहीं वरन् आर्थिक सहायता के निमित्त है क्योंकि हमारे समाज की बनावट ही कुछ ऐसी है कि यहाँ स्त्रियाँ नौकरी नहीं करतीं। यह प्रवत्ति पढ़ी-लिखी लड़कियों तक में है। फिर बिना पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ किस प्रकार साधारण कार्य करने को प्रस्तुत हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में विधवा-विवाह विधवा का उद्धार कर देता है। यदि स्त्रियों में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार हो जाय और वे नौकरी कर सकें तो विधवा-जीवन की सारी दयनीयता स्वतः मिट जायगी। स्त्रियों में आज यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे पैदा हो रही है। प्रेमचन्द के समय यह स्थिति न थी। आजकल विधवा-विवाह भी एक साधारण-सी बात समझी जाती है। लेकिन प्रेमचन्द के समय विधवा से विवाह करना बड़ा भारी क्रान्तिकारी कार्य समझा जाता था। विधवा समस्या को हल करने के लिये प्रेमचन्द ने दो उपाय बताए हैं—

(१) विधवा विवाह, और (२) वनिता-आश्रम की स्थापना।

विधवा-विवाह हिन्दू विधवा नारी की समस्या का एक कारगर हल है। आज के हिन्दू-समाज को देखते हुए इसे सामयिक कदम भी कहा जा सकता है। आज की हिन्दू-स्त्रियाँ बहुत कम साक्षर हैं, दूसरे सामाजिक और नैतिक बन्धनों में वे इतनी अधिक जकड़ दी गई हैं कि अधिकांश पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी अपनी कोई स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था नहीं कर सकतीं। जैसा कि लिखा जा चुका है विधवा की समस्या यौन-तृप्ति की समस्या नहीं है, उसका आधार आर्थिक है और यही आधार हिन्दू-विधवा के पास नहीं के बराबर है। ऐसी स्थिति में यदि देश के युवक विधवा-विवाह की पद्धति को अपनाते हैं तो सामाजिक स्थिति को देखते हुए समस्या के हल की दिशा में उनका यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा। माना कि विधवा-विवाह हिन्दू-नारी की पराधीनता का उपचार नहीं है, पर प्रेमचन्द के समय के हिन्दू-समाज के लिये यही क्रान्तिकारी कार्य था।

प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध में 'प्रतिज्ञा' में विस्तार से अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'प्रतिज्ञा' का प्रारम्भ ही इस प्रश्न को लेकर होता है। काशी के आर्य-मन्दिर में पंडित अमरनाथ का व्याख्यान हो रहा है। पंडित अमरनाथ उपस्थित जनता के उस भाग से जिसे पत्नी वियोग हो चुका है, पूछते हैं, "आप लोगों में कितने महाशय हैं, जो वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने का साहस रखते हैं? कृपया वे हाथ उठाये रहें। अरे, यह क्या? एक भी हाथ नजर नहीं आता। हमारा युवक समाज इतना कर्तव्यशून्य, इतना साहसहीन है।"[1] यह समाज की स्थिति है। विधवा-

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ४

विवाह करने की न तो समाज में इच्छा है और न साहस। प्रेमचन्द इस कर्तव्य-पालन के लिये अमृतराय को सामने लाते हैं, और विधवा-समस्या का हल व्यक्तिगत रूप में प्रस्तुत करते हैं कि यदि जिसकी पहली स्त्री मर गई हो, तो वह विधवा से विवाह करे। यह हल वैयक्तिक ही नहीं नैतिकता से भी सम्बन्ध रखता है। समाज का यदि नैतिक स्तर उठ जाता है तब तो यह या इसके समान अनेक समस्याएँ अपने आप हल हो जाती हैं। प्रस्तुत विषय पर अमृतराय और प्रो० दाननाथ में जो बहस होती है वह इस प्रकार है—"यह अच्छा सिद्धान्त है कि जिसकी पहली स्त्री मर गई, वह विधवा से विवाह करे।

अमृ०—न्याय तो यही कहता है।

दान०—बस, तुम्हारे न्याय पथ पर चलने ही से तो सारे संसार का उद्धार हो जायगा। तुम अकेले कुछ नहीं कर सकते। हाँ, नक्कू बन सकते हो।

अमृतराय ने दाननाथ को सगर्व नेत्रों से देखकर कहा—आदमी अकेला भी बहुत कुछ कर सकता है। अकेले आदमियों ने ही आदि से विचारों में क्रान्ति पैदा की है। अकेले आदिमियों के कृत्यों से सारा इतिहास भरा पड़ा है। कुछ नहीं कर सकता—यह मैं न मानूंगा।"[1]

निःसन्देह व्यक्तिगत रूप से विधवा-विवाह विधवा-समस्या को सुलझाने में सामयिक और आंशिक सहायता कर सकता है। पर वह भी एक दुर्लभ कार्य है, कम से कम प्रेमचन्द के समय तो था ही। विधवा-विवाह के विरोधियों का अच्छा-खासा दल विद्यमान था जो इसे पाप ठहराता था और धर्म की दुहाई देकर इसका बुरे से बुरे शब्दों में खुला विरोध करता था। 'प्रतिज्ञा' में ऐसे समाज का प्रतीक प्रेमा का पिता बदरीप्रसाद है। लाला बदरीप्रसाद विधवा-विवाह का विरोध करते हुए कहते हैं, "मैं समझता हूँ, इससे हमारा समाज नष्ट हो जाएगा, हम इससे कहीं अधोगति को पहुँच जायेंगे, हिन्दुत्त्व का रहा-सहा चिह्न भी मिट जायगा।"[2] आगे चलकर जब उन्हें मालूम पड़ता है कि अमृतराय ने विधवा-विवाह करने की प्रतिज्ञा की है तब तो वे समझते हैं, "अमृतराय ने तो आज डोंगा ही डुबो दिया।"[3] बदरीप्रसाद का पुत्र कमलाप्रसाद भी अमृतराय की इस प्रतिज्ञा पर व्यंग करता है, "मैं तो समझता था, इसमें कुछ समझ होगी। मगर निरा पोंगा निकला। ...तो कोई विधवा भी ठीक हो गई कि नहीं, कहाँ है मिसराइन, कह दो अब तुम्हारी चाँदी है, कल ही सन्देशा भेज दे। कोई और न जाय तो मैं जाने को तैयार हूँ। बड़ा मजा रहेगा। कहाँ है मिसरानी

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ५-६

२. प्रतिज्ञा पृष्ठ १०

३. वही पृष्ठ १४

अब उनके भाग्य चमके। रहेगी बिरादरी ही की विधवा न? कि बिरादरी की भी कैद नहीं रही?"[१] ये वे सारी रुकावटें हैं जो विधवा-समस्या के हल में सामने आती हैं। प्रेमचन्द ने उन सबका अच्छा चित्रण किया है लेकिन हजार रुकावटों के होते हुए भी प्रेमचन्द समाज को आगे बढ़ाते हैं। प्रेमा और अमृतराय जैसे सत् पात्रों को गढ़ते हैं। प्रेमा अपनी माँ देवकी से कहती है, "ऐसे (अमृतराय) सुशिक्षित पुरुष अगर यह काम न करेंगे तो कौन करेगा? जब तक ऐसे लोग साहस से काम न लेंगे, हमारी अभागिनी बहनों की रक्षा कौन करेगा?"[२] स्वयं प्रेमचन्द ने जो विधवा-विवाह (?) किया वह इस हल पर उनकी आस्था का प्रमाण है।

'प्रतिज्ञा' में पूर्णा हिन्दू-विधवा की प्रतीक है। लाला बदरीप्रसाद उसे अपने घर रखने को सच्चे हृदय से प्रस्ताव रखते हैं, "मैं सोच रहा हूँ, पूर्णा को अपने ही घर में रखूँ तो क्या हरज है? अकेली औरत कैसे रहेगी?"[३] और आगे चलकर पूर्णा उनके घर में आ भी जाती है। पर स्वयं प्रेमचंद यह अच्छी तरह बता देते हैं कि विधवा की रक्षा का यह कोई हल नहीं है। पूर्णा का आगामी जीवन जो रूप लेता है वह लाला बदरीप्रसाद की इस दया को बेकार कर देता है।

विधवा-समस्या के हल का दूसरा उपाय प्रेमचंद "वनिता-आश्रम" की स्थापना द्वारा बताते हैं। यह उपाय वैयक्तिक तो नहीं है, पर, आदर्शवादी रूप अवश्य लिए हुए है। प्रेमचंद के आलोचकों ने उनके इस आदर्शवाद की खूब खिल्ली उड़ाई है। पर वे यह भूल जाते हैं कि प्रेमचंद के समय के समाज में इससे बड़ा यथार्थवादी, व्यावहारिक कदम और क्या हो सकता था? पराधीन जाति अपनी सामाजिक समस्याओं को इसी प्रकार सुलझा सकती थी। यही उसमें चेतना उत्पन्न करने, तथा क्रांतिकारी भावनाओं को भरने का माध्यम था। आज के युग में प्रेमचंद के ये हल अव्यावहारिक अथवा साधारण भले ही लगें, पर, इसमें संदेह नहीं कि उस समय का लेखक इसके आगे कुछ सोच भी न सकता था। "वनिता-आश्रम" की स्थापना भी कोई सहज वस्तु न थी। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद ने इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। अमृतराय एक "वनिता-आश्रम" खोलने जा रहे हैं। कमलाप्रसाद उसपर टिप्पणी करता है, "कमाने का नया ढंग निकाला है। बदरी-प्रसाद ने जरा माथा सिकोड़कर पूछा, "कमाने का ढंग कैसा, मैं नहीं समझा?" कमलाप्रसाद—वही जो और लीडर करते हैं। 'वनिता-आश्रम में विधवाओं

---

१. वही पृष्ठ १४-१५

२. वही पृष्ठ १२

३. प्रतिज्ञा पृष्ठ २२

का पालन-पोषण किया जायगा। उन्हें शिक्षा भी दी जायगी। चन्दे की रकमें आयेंगी और यार लोग मौज करेंगे। कौन जानता है, कहाँ से कितने रुपये आए? महीने भर में एक झूठा-सच्चा हिसाब छपवा दिया।"[1] दकियानूसी समाज का प्रतीक लाला बदरीप्रसाद "वनिता-आश्रम" जैसी संस्थाओं पर और भी घृणित विचार रखता है, "आपको (अमृतराय) कन्हैया बनने की धुन है। दस बीस जवान विधवाओं को इधर-उधर से एकत्र करके रासलीला रचायेंगे। चार-दीवारी के अन्दर कौन देखता है, क्या हो रहा है।"[2]

प्रेमचन्द यह भलीभाँति बता देते हैं कि समाज उक्त समस्या पर अपने क्या विचार रखता है, पर, वे उस समाज का समर्थन नहीं करते। समाज की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देते हैं। अमृतराय द्वारा "वनिता आश्रम" की स्थापना करके समाज को गति देते हैं, उसे सोचने समझने के लिए संकेत करते हैं। मात्र बौद्धिक सहानुभूति प्रकट करके नहीं रह जाते। "वनिता आश्रम" की आवश्यकता वे प्रेमा के भाषण से व्यक्त करते हैं, "यह सभा आज इसलिये की गई है कि आपसे इस नगर में एक ऐसा स्थान बनाने के लिये सहायता माँगी जाय, जहाँ हमारी अनाथ, आश्रयहीन बहनें, अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए शान्ति से रह सकें। कौन ऐसा मुहल्ला है, जहाँ ऐसी दस-पाँच बहनें नहीं हैं। उनके ऊपर जो बीतती है, वह क्या आप अपनी आँखों से नहीं देखते? कम से कम अनुमान तो कर ही सकते हैं। वे जिधर आँखें उठाती हैं, उधर ही उन्हें पिशाच खड़े दिखाई देते हैं, जो उनकी दीनावस्था को अपनी कुवासनाओं के पूरा करने का साधन बना लेते हैं। हमारी लाखों बहनें इस भाँति केवल जीवन-निर्वाह करने के लिये पतित हो जाती हैं। क्या आपको उन पर दया नहीं आती? मैं विश्वास से कह सकती हूँ कि अगर उन बहनों को रूखी रोटियाँ और मोटे कपड़ों का भी सहारा हो, तो वे अन्त समय तक अपने सतीत्व की रक्षा करती रहें। स्त्री हारे दर्जे दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज को इतना मूल्यवान समझती है।"[3]

इस प्रकार विधवा-समस्या पर प्रेमचन्द जैसे जागरूक लेखक ने जो कुछ लिखा है, वह हिन्दू-समाज को एक चुनौती है। उनका सुधारवादी दृष्टिकोण, उस समय का बड़े से बड़ा क्रान्तिकारी कदम था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ४३
२. „ पृष्ठ ७०
३. „ पृष्ठ ८७-८८

वैवाहिक समस्या

वैवाहिक समस्या भारतीय समाज की ही समस्या नहीं है वरन समग्र स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक देश और जाति के लोग अपने-अपने आचार-विचार से विवाह के सम्बन्ध में सोचते हैं। प्रेमचन्द ने प्राय: अपने सभी उपन्यासों में हिन्दू-समाज की वैवाहिक समस्या को स्पर्श किया है। सामाजिक संगठन में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है। वैवाहिक असंगतियाँ समाज में अनेक कुरीतियों को पनपने का अवसर देती हैं। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में असंगतियाँ नहीं होनी चाहिये। प्रेमचन्द भारतीय जन-समाज को स्वस्थ और आदर्श रूप में देखना चाहते थे। ऐसी स्थिति में वैवाहिक समस्या की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। दूसरे आज घर-घर में वैवाहिक समस्या एक ज्वलन्त समस्या के रूप में देखी जाती है। प्रेमचन्द ने वैवाहिक समस्या को मध्यम-वर्ग तक ही सीमित रखा है। उच्च व निम्न वर्गीय समाज का चित्रण इस क्षेत्र में नाम मात्र का है। वास्तव में देखा जाय तो वैवाहिक समस्या अपने सबसे अधिक जटिल रूप में मध्यमवर्गीय परिवारों में ही पाई जाती है। अत: उक्त समस्या के लिये मध्यम-वर्ग को केन्द्र मानकर चलना आवश्यक था।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की विवाह के सम्बन्ध में क्या मान्याएँ थीं। 'वरदान', 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'गोदान' तक क्या वे मान्यताएँ अपरिवर्तित रहीं ? यदि नहीं, तो विवाह सम्बन्धी वे अन्तिम और अधिकृत मान्यताएँ कौन-कौन सी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये उनके उपन्यासों में व्यक्त विचारों का उल्लेख आवश्यक है।

'वरदान' में प्रेमचन्द लिखते हैं, "यह कच्चे धागे का कंगन पवित्र धर्म की हथकड़ी है, जो कभी हाथ से न निकलेगी, और मंडप उस प्रेम और कृपा की छाया का स्मारक है, जो जीवन पर्यन्त सिर से न उठेगी।"[१]

---

१. वरदान पृष्ठ ३३

"हृदय का मिलाप सच्चा विवाह है। सिंदूर का टीका, ग्रन्थि-बंधन और भाँवर ये सब संसार के ढकोसले हैं।"[१]

"मैं आर्य बाला हूँ। मैंने गान्धारी और सावित्री के कुल में जन्म लिया है। जिसे एक बार मन से अपना पति मान चुकी, उसे नहीं त्याग सकती। यदि मेरी आयु इसी प्रकार रोते-रोते कट जाय, तो भी अपने पति की ओर से मुझे कुछ भी खेद न होगा।"[२]

'वरदान' में विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार प्राचीन आदर्शों के पोषक हैं। यह अवश्य है कि वे वैवाहिक रीति-रिवाजों को महत्त्व नहीं देते। 'सेवा-सदन' में भी प्रेमचन्द यही बात लिखते हैं, "विवाह, भाँवर या सिंदूर बन्धन नहीं, बन्धन केवल मन का भाव है।"[३] प्रेमचन्द धर्म और प्रेम के आधार पर होनेवाले विवाह के समर्थक थे। 'सेवासदन' में शान्ता कहती है, "हम विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम, धर्म के पीछे चलता है।"[४] 'प्रेमाश्रम' में गायत्री भी प्राचीन वैवाहिक आदर्शों को सब कुछ समझती है, "विवाह स्त्री-पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।"[५] पश्चिमी देशों के वैवाहिक आदर्शों की आलोचना करती हुई गायत्री कहती है, "उन देशों की बात न चलाइये, वहाँ के लोग विवाह को केवल सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं।...उनके विचार में स्त्री-पुरुष की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ।"[६] 'काया-कल्प' में लोगों के मुख से पुनः ऊपरी रीति-रिवाजों को महत्त्वहीन ठहराया गया है, "चार भाँवरें फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता।"[७] 'कर्मभूमि' में नैना कहती है, "जो विवाह को धर्म का बन्धन नहीं समझता है, उसे केवल वासना की तृप्ति का साधन समझता है, वह पशु है।"[८] 'गोदान' में मेहता कहते हैं, "प्रेम जब आत्म-समर्पण का रूप लेता है, तभी ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी है।"[९] इसके पूर्व 'वरदान' में प्रेम और विवाह पर प्रेमचन्द लिख चुके थे, "प्रेम चित्त की प्रवृत्ति

१. वरदान पृष्ठ १५३-१५४
२. वही पृष्ठ १५८ (माधवी का कथन)
३. सेवासदन पृष्ठ २४२
४. वही पृष्ठ २६४
५. प्रेमाश्रम पृष्ठ २६४
६. प्रेमाश्रम पृष्ठ २६५
७. कायाकल्प पृष्ठ ६१
८. कर्मभूमि पृष्ठ २६३
९. गोदान पृष्ठ १९९

है और ब्याह एक पवित्र धर्म है।"[१] इस प्रकार प्रेमचन्द विवाह की गम्भीरता के कायल थे। उन्होंने धर्म और प्रेम को विवाह का आधार माना है, जिसमें धर्म का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक संगठन में विवाह आवश्यक वस्तु है। दाम्पत्य-जीवन की महत्ता प्रतिपादित करता हुआ प्रभु सेवक कहता है, "दाम्पत्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का मूल है। उसका त्याग कर दीजिए, बस हमारे सामाजिक संगठन का शीराजा बिखर जाएगा, और हमारी दशा पशुओं के समान हो जाएगी। गार्हस्थ्य को ऋषियों ने सर्वोच्च धर्म कहा है, और अगर शान्त हृदय से विचार कीजिए, तो विदित हो जायगा कि ऋषियों का यह कथन अत्युक्ति नहीं है। दया, सहानुभूति, सहिष्णुता, उपकार, त्याग आदि देवोचित गुणों के विकास के जैसे सुयोग, गार्हस्थ्य जीवन में प्राप्त होते हैं, और किसी अवस्था में नहीं मिल सकते।"[२]

विवाह का महान आदर्श आज समाज में लुप्त हो गया है। दाम्पत्य जीवन का सुख आज दुर्लभ वस्तु बन गया है। वैवाहिक असंगतियाँ आज घर-घर में विद्यमान हैं, जिनने स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को विकृत तो किया ही है, समाज की शान्ति भी भंग कर रखी है। प्रेमचन्द ने वैवाहिक असंगतियों की ओर अपने उपन्यासों में जगह-जगह हमारा ध्यान आकर्षित किया है। विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही प्रगतिशील थे। समाज के प्रचलित रवैये से उन्हें घोर असन्तोष था, क्योंकि इन्हीं कारणों से विवाह की पवित्रता दिन पर दिन कम होती जा रही थी। प्रेमचन्द द्वारा वर्णित वैवाहिक असंगतियों के दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

'वरदान' में प्रेमचन्द अपरिचित लड़के-लड़कियों के वैवाहिक सम्बन्धों पर टीका करते हुए लिखते हैं, "वह (प्रताप) जो अपने विचारों में बिरजन को अपना समझता था, कहीं का न रहा। और वह (कमला) जिसने बिरजन को एक पल के लिए भी अपने ध्यान में स्थान न दिया था, उसका सर्वस्व हो गया।"[३]

'निर्मला' में निर्मला का विवाह दोहाजू से होता है। प्रेमचन्द ने कितने तीखे व्यंग से लिखा है, "अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।"[४]

---

१. वरदान पृष्ठ १५६
२. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ १५४
३. वरदान पृष्ठ ४२
४. निर्मला पृष्ठ २७

दोहाजू विवाह, अनमेल विवाह आदि कुरीतियों ने समाज के ढाँचे को जर्जर कर दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन कुरीतियों को किन कारणों ने जन्म दिया है? अनमेल-विवाह क्यों होते हैं? प्रेमचन्द ने दो प्रमुख कारण इस सम्बन्ध में बताए हैं—प्रथम, दहेज-प्रथा और दूसरा, माता-पिता की ओर से पर्याप्त सावधानी का अभाव।

हिन्दू-समाज में वैवाहिक समस्या को सबसे अधिक जटिल दहेज-प्रथा ने बनाया है। अनेक सुन्दर, सुशिक्षित और सुसंस्कृत लड़कियाँ समुचित दहेज के अभाव में असुन्दर, मूर्ख और असंस्कृत लड़कों से ब्याह दी जाती हैं। प्रेमचन्द ने एक ऐसे ही अनमेल-विवाह की करुण-कहानी, 'निर्मला' में कही है। निर्मला का दहेज की कु-प्रथा के कारण ही दोहाजू से विवाह होता है और उसका सारा जीवन करुण प्रसंगों से गुजरता है। निर्मला देश के करोड़ों निर्धन परिवारों की लड़कियों का प्रतिनिधित्व करती है।

निर्मला के पिता बाबू उदयभानु लाल जब जीवित थे तब उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह बाबू भालचन्द्र सिन्हा के ज्येष्ठ पुत्र भुवनमोहन से तय कर लिया था। बाबू उदयभान लाल एक अच्छे वकील थे। लक्ष्मी उन पर प्रसन्न थीं, फिर भी दहेज का भय उन्हें खा रहा था। बाबू भालचन्द्र सिन्हा ने अपने पुत्र के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते समय दहेज सम्बन्धी कोई बात तय नहीं की, प्रत्युत यह कह दिया, "आपकी खुशी हो आप दहेज दें या न दें, मुझे इसकी परवा नहीं, हाँ बारात में जो लोग जायँ, उनका आदर-सत्कार अच्छी तरह होना चाहिये, जिससे मेरी और आपकी जग-हँसाई न हो।"[१] लेकिन बाबू भालचन्द्र सिन्हा का असली चेहरा निर्मला के पिता उदयभानु की मृत्यु के पश्चात् दिखाई देता है। उन्हें इस बात की आशा थी कि उदयभानु काफी अच्छा दहेज देंगे, क्योंकि उनकी वकालत अच्छी चलती थी। उदयभानु की मृत्यु से उनकी आशाओं पर तुषारापात हो गया, पर वे सज्जनता का स्वाँग छोड़ना नहीं चाहते। निर्मला की माँ कल्याणी पुरोहित मोटेराम के द्वारा जब भालचन्द्र सिन्हा के पास सन्देश भेजती है तब वे जिस अभिनय कला से अपने मनोभावों को छिपाते हैं उसका वर्णन पढ़ने योग्य है। मोटेराम कहते हैं, "आप जैसे सज्जनों के दर्शन दुर्लभ हैं। नहीं तो आज कौन बिना दहेज के पुत्र का विवाह करता है।" भालचन्द्र—महाराज, दहेज की बातचीत ऐसे सत्यवादी पुरुषों से नहीं की जाती। उनसे तो सम्बन्ध हो जाना ही लाख रुपये के बराबर है। मैं इसको अपना अहोभाग्य समझता हूँ। हाँ, कितनी उदार आत्मा थी। रुपयों को तो उन्होंने कुछ समझा

१. निर्मला पृष्ठ ३

ही नहीं, तिनके के बराबर भी परवाह नहीं की । बुरा रिवाज है, बेहद बुरा । मेरा बस चले, तो दहेज लेनेवालों और दहेज देनेवालों दोनों ही को गोली मार दूँ । फिर चाहे फाँसी ही क्यों न हो जाए । पूछो आप लड़के का विवाह करते हैं कि उसे बेचते हैं ? अगर आपको लड़के की शादी में दिल खोलकर खर्च करने का अरमान है तो शौक से कीजिए, लेकिन जो कुछ कीजिए, अपने बल पर । यह क्या, कि कन्या के पिता का गला रेतिये । नीचता है, घोर नीचता । मेरा बस चले, तो इन पाजियों को गोली मार दूँ ।"[1] दहेज-प्रथा के विरोध में इतना भाषण करने के बाद भालचन्द्र सिन्हा निर्मला से अपने पुत्र का विवाह करने में असमर्थता प्रकट करते हैं और वास्तविकता को छिपाकर औरतों जैसी दलील प्रस्तुत करते हैं, "पंडित जी, हल्फ से कहता हूँ, मुझे उस लड़की से जितना प्रेम है, उतना अपनी लड़की से भी नहीं, लेकिन जब ईश्वर को मंजूर नहीं है, तो मेरा क्या बस है ? यह मृत्यु एक प्रकार की अमंगल सूचना है, जो विधाता की ओर से हमें मिली है । यह किसी आनेवाली मुसीबत की आकाशवाणी है । विधाता स्पष्ट रीति से कह रहा है, यह विवाह मंगलमय न होगा । ऐसी दशा में आप ही सोचिए, जिस काम का आरम्भ ही अमंगल से हो, उसका अन्त मंगलमय हो सकता है ? नहीं, जान बूझकर मक्खी नहीं निगली जाती । समधिन साहब को समझा कर कह दीजिएगा मैं उनकी आज्ञापालन करने को तैयार हूँ, लेकिन इसका परिणाम अच्छा न होगा । स्वार्थ के वश में होकर मैं अपने परम मित्र की सन्तान के साथ यह अन्याय नहीं कर सकता ।"[2]

पर उनका सारा पाजीपन उनकी पत्नी रंगीलीबाई खोल देती है, "साफ बात कहने में संकोच क्या ? हमारी इच्छा है, नहीं करते । किसी का कुछ लिया तो नहीं है । जब दूसरी जगह दस हजार नकद मिल रहे हैं, तो वहाँ क्यों न करूँ ? उनकी लड़की कोई सोने की थोड़े ही है ? वकील साहब जीते होते तो शरमाते-शरमाते भी पन्द्रह बीस हजार दे मरते । अब वहाँ क्या रहा है ?"[3] और जब कल्याणी का पत्र पढ़कर रंगीलीबाई दया से द्रवीभूत हो उठती है तथा निर्मला से विवाह करने को राजी हो जाती है तब बाबू भालचन्द्र सिन्हा तरह-तरह से पैंतरे बदलने लग जाते हैं । उनकी इस कलाबाजी पर रंगीलीबाई की फटकार भालचन्द्र सिन्हा जैसे लाखों बाबुओं की नीचता का पर्दाफाश करती है, "क्यों जी, तुम मुझसे भी उड़ते हो, दाई से पेट छिपाते हो । मैं तुम्हारी बातें मान जाती हूँ, तो तुम समझते हो, इसे चकमा दिया, मगर मैं तुम्हारी एक-एक नस पहचानती

---

१. निर्मला पृष्ठ १९
२. वही पृष्ठ २१
३. निर्मला पृष्ठ २२

हूँ। तुम अपना ऐब मेरे सिर पटक कर खुद बेदाग बचना चाहते हो। बोलो, कुछ झूठ कहती हूँ? जब वकील साहब जीते थे, तो तुमने सोचा था कि ठहराव की जरूरत ही क्या है, वह खुद ही जितना उचित समझेंगे देंगे, बल्कि बिना ठहराव के और ही ज्यादा मिलने की आशा होगी। अब जो वकील साहब का देहान्त हो गया, तो तरह-तरह के हीले-हवाले करने लगे। यह भलमनसी नहीं, छोटापन है, इसका इल्जाम भी तुम्हारे ही सिर है। मैं शादी-ब्याह के नजीक न जाऊँगी। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो। ढोंगी आदमियों से मुझे चिढ़ है। जो बात करो, सफाई से करो, बुरा हो या अच्छा। 'हाथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और' वाली नीति पर चलना तुम्हें शोभा नहीं देता।"[१]

इसी प्रकार धन के लोभी, अकर्मण्य, अनैतिक व चरित्रहीन युवकों को भी प्रेमचन्द समाज के सामने लाते हैं। बाबू भालचन्द्र सिन्हा का पुत्र भुवन अपनी माँ से कहता है, "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइये, कि खूब रुपये मिलें। और न सही, एक लाख का तो डौल हो। वहाँ क्या रक्खा है? वकील साहब रहे नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा?

रंगीली०—तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म नहीं आती?

भुवन०—इसमें शर्म की कौन-सी बात है? रुपये किसे काटते हैं? लाख रुपये तो लाख जन्म में भी जमा न कर पाऊँगा।...दुनिया का कुछ मजा न उठा सकूँगा। किसी धनी लड़की से शादी हो जाती, तो चैन से कटती। मैं ज्यादा नहीं चाहता, बस एक लाख नकद हो, या फिर कोई ऐसी जायदादवाली बेवा मिले, जिसके एक ही लड़की हो।

रँगीली०—चाहे औरत कैसी ही मिले?

भुवन०—धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे तो वह गालियाँ भी सुनाये तो चूँ न करूँ। दुधार गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है?"[२]

निदान, निर्मला के विवाह की बात टूट जाती है। प्रेमचन्द दहेज-प्रथा पर टीका करते हुए लिखते हैं, "वह (निर्मला) रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे, दहेज हो तो सारे दोष गुण हैं, प्राण का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज का मूल्य है। कितनी विषम भाग्यलीला है?"[३] आगे चलकर भुवन का विवाह सुधा नामक युवती से हो जाता है। प्रेमचन्द ने सुधा के माध्यम से भुवन जैसे युवकों पर कितना मर्मभेदी व्यंग्य किया है, "मेरे दादाजी ने पाँच-हजार दिये न। अभी छोटे भाई के विवाह में पाँच छः हजार और मिल जायेंगे। फिर

१. निर्मला पृष्ठ २४
२. निर्मला पृष्ठ २६
३. वही पृष्ठ ३३

तो तुम्हारे बराबर धनी संसार में कोई दूसरा न होगा। ग्यारह हजार बहुत होते हैं, बाप रे बाप। ग्यारह हजार...उठा उठा कर रखने लगे, तो महीनों लग जायँ। अगर लड़के उड़ाने भी लगें, तो तीन पीढ़ियों तक खर्च चले। कहीं से बात हो रही है या नहीं?"[1]

'निर्मला'—उपन्यास के पूर्व 'प्रतिज्ञा' में भी प्रेमचन्द ने दहेज-प्रथा के विरोध में पर्याप्त लिखा है। यहाँ उन्होंने दहेज के मूल कारण पर प्रकाश डाला है। सुमित्रा और पूर्णा का निम्नलिखित वार्तालाप उपर्युक्त तथ्य को हमारे सामने रखता है, "सुमित्रा मजा तो तभी आये, जब लड़कीवाले भी लड़कियों का दहेज लेने लगें। बिना भरपूर दहेज लिए विवाह ही न करें। तब पुरुषों के होश ठिकाने हो जायँ। मेरा तो अगर बाबूजी विवाह न करते, तो मुझे कभी इसका खयाल भी न आता। मेरी समझ में यही बात नहीं आती कि लड़कीवालों को ही लड़की व्याहने की इतनी गरज क्यों होती है?"

पूर्णा—तुम बहन बच्चों की-सी बातें करती हो। लड़कियों के विवाह में साल दो साल का विलम्ब हो जाता है, तो चारों ओर हँसी होने लगती है। लड़कों का विवाह कभी न हो, तो भी कोई नहीं हँसता। लोक-रीति भी कोई चीज है।"[2] यहाँ प्रेमचन्द ने लोक-रीति का उल्लेख करके वर्तमान सामाजिक संगठन की निन्दा की है। दहेज-प्रथा कानून से बिलकुल नहीं मिटाई जा सकती। कानून बना देने पर वह कोई और शक्ल में सामने आ जाएगी। आवश्यकता लोक-रीति को बदलने की है।

'सेवासदन' का आधार भी दहेज-प्रथा है। दारोगा कृष्णचन्द्र के दो लड़कियाँ हैं—सुमन और शान्ता। सुमन को सोलहवाँ वर्ष लगने पर वे वर की खोज करते हैं। प्रेमचन्द बताते हैं कि दारोगा जी के सामने दहेज की दुर्भेद दीवार आकर उनका किस प्रकार रास्ता रोक लेती है, "वर की खोज में दौड़ने लगे, कई जगहों से टिप्पणियाँ मँगवाईं। वह शिक्षित परिवार चाहते थे। वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन-देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है। राशि वर्ष ठीक हो जाने पर जब लेन-देन की बातें होने लगतीं तब कृष्णचन्द्र की आँखों के सामने अँधेरा छा जाता था। कोई चार हजार सुनाता, कोई पाँच हजार और कोई इससे भी आगे बढ़ जाता। बेचारे निराश होकर लौट आते।"[3] आगे दहेज के लिए

---

१. निर्मला पृष्ठ १०८

२. प्रतिज्ञा पृष्ठ ९२

३. सेवासदन पृष्ठ ५-६

ही कृष्णचन्द्र रिश्वत लेते हैं और पकड़े जाते हैं। उनके पकड़े जाने के बाद सुमन का जीवन किस दिशा में जाता है वह 'सेवा-सदन' का कथानक है।

अतः आज हिन्दू-समाज में विवाह के लिये सर्वप्रथम धन देखा जाता है। हिन्दू-समाज की वैवाहिक समस्या के पीछे आर्थिक अभाव नहीं वरन् गिरी हुई नैतिकता है। जिस समाज में विवाह का आधार ही धन है वहाँ आर्थिक प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। अमीर-गरीब सभी परिवारों में इस गिरी हुई नैतिकता के दर्शन होते हैं जो वैवाहिक असंगतियों को जन्म देती है। यदि गरीबी मिटा दी जाय तो भी दहेज-प्रथा उस समय तक नहीं मिट सकती जब तक समाज का नैतिक स्तर ऊँचा नहीं उठता। अतः दहेज-प्रथा का आर्थिक पहलू नगण्य है। वह तो एक सामाजिक कुरीति है जिसे कानून अथवा नैतिक बल से दूर करना आवश्यक है। कानून से दहेज प्रथा के मिटाने में सहायता मिल सकती है पर उसे बिल्कुल हटाया नहीं जा सकता। इसलिए प्रेमचन्द, युवकों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं जिससे यह कुप्रथा मिट सके। 'निर्मला' में सुधा के मुख से प्रेमचन्द युवकों की पीढ़ी को आत्मबल का परिचय देने का आह्वान करते हैं, "बूढ़ा आदमी सोचता है, मुझे सारा खर्च सँभालना पड़ेगा, कन्या पक्ष से जितना ऐंठ सकूँ, उतना ही अच्छा, मगर यह वर का धर्म है कि यदि वह स्वार्थ के हाथों बिल्कुल बिक नहीं गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे।"[1] और 'काया-कल्प' में वे एक ऐसा आदर्श युवक चक्रधर के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं जहाँ वह अपनी माँ निर्मला से उग्र होकर कहता है, "अगर तुम मेरे सामने देने दिलाने का नाम लोगी, तो जहर खा लूँगा।"

निर्मला—"वाह रे, तो क्या पचीस बरस तक यों ही पाला पोसा है? मुँह धो रख।

चक्रधर—तो बाजार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं देतीं? देखो कै टके मिलते हैं?"[2] यही नहीं, चक्रधर अपने पिता वज्रधर से भी स्पष्ट शब्दों में कहता है—"मेरा खयाल है कि स्त्री हो या पुरुष, गुण और स्वभाव ही उसमें मुख्य वस्तु है। इसके सिवा और सभी बातें गौण हैं।"[3]

वैवाहिक समस्या से सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण पहलू माता-पिता की ओर से पर्याप्त सावधानी का अभाव है, हिन्दू परिवारों में विवाह युवक-युवती स्वतन्त्र रूप से नहीं करते, उसके पीछे उनके माता-पिता का हाथ रहता है। पुत्री तो शत-प्रतिशत माता-पिता की इच्छा-अनिच्छा पर ही रहती है। ऐसी सूरत में,

१. निर्मला पृष्ठ १०६
२. कायाकल्प पृष्ठ १६-१७
३. वही पृष्ठ ११७

वैवाहिक असंगतियों के प्रति वर-वधू के माता-पिता भी उत्तरदायी ठहरते हैं। प्रेमचन्द ने प्रस्तुत समस्या के इस पहलू पर भी अपने उपन्यासों में विस्तार से लिखा है।

माता-पिता अपनी लड़की का मात्र विवाह कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं। लड़की का विवाह करके वे मानों अपने सिर से बहुत बड़ा बोझ उतार कर निश्चित हो जाते हैं। यदि विवाह असफल रहा तो उसके लिए अपने दोष न देखकर भाग्य को कोसते हैं। इसका मुख्य कारण सामाजिक व्यवस्था है जहाँ लड़की का विवाह अधिक दिन रोके रखना कलंक की बात समझी जाती है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द लिखते हैं, "जवान लड़की बैठी रहे, यह कुल के लिये और घोर अपमान की बात थी।"[1] अतः 'कुल मर्यादा' की रक्षा के लिये कुपात्र के साथ भी लड़कियों का विवाह करवा दिया जाता है और बाद में भाग्य की आड़ में माता-पिता अपने दब्बूपन और आलस्य को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। ठाकुर हरिसेवक सिंह को फटकारती हुई लौंगी कहती है, "भाग्य पर वह भरोसा करता है, जिसमें पौरुष नहीं होता। लड़की को डुबा दिया, ऊपर से शरमाते नहीं, कहते हो भाग्य भी कोई चीज है।"[2] 'निर्मला' में कल्याणी भी अपनी पुत्री का विवाह भाग्य के आसरे कर देने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है। आप "ईश्वर का नाम लेकर वकील साहब की टीका कर आइये आयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना जीना विधि के हाथ है। पैंतीस साल का आदमी बूढ़ा नहीं कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है, तो जहाँ जायगी, सुखी रहेगी। दुःख भोगना है, तो जहाँ जायगी, दुःख झेलेगी।"[3] 'वरदान' में मुंशी संजीवनलाल अपनी पत्नी सुशीला पर विरजन के विवाह का दोषारोपण करता है, पर प्रेमचन्द उपन्यास-कला की हत्या करके भी उनके विचारों का खंडन करते हैं और समाज के ऐसे लापरवाह पिताओं को चेतावनी देते हैं—"कभी कमला हाट में बुलबुल लड़ाते मिल जाता, कभी गुण्डों के संग सिगरेट पीते, पान चबाते, बेढंगेपन से घूमता हुआ दिखाई देता। मुंशीजी जब जामाता की यह दशा देखते तो घर आते ही स्त्री पर क्रोध निकालते, यह सब तुम्हारी ही करतूत है। तुम्हीं ने कहा था, घर-वर दोनों अच्छे हैं, तुम्हीं रीझी थीं। उन्हें उस क्षण यह विचार न होता कि जो दोषारोपण सुशीला पर है, कम से कम मुझ पर भी उतना ही है। वह बेचारी तो घर में बन्द रहती थी, उसे क्या ज्ञान था कि लड़का कैसा है। वह सामुद्रिक विद्या थोड़े ही पढ़ी थी? उसके माता-पिता को सभ्य देखा, उनकी कुलीनता

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ३३
२. कायाकल्प पृष्ठ १६५
३. निर्मला पृष्ठ ३६

ग्रौर वैभव पर सहमत हो गई। पर मुंशी जी ने तो केवल ग्रकर्मण्यता ग्रौर ग्रालस्य के कारण छानबीन न की, यद्यपि उन्हें इसके ग्रनेक ग्रवसर प्राप्त थे, ग्रौर मुंशीजी के ग्रगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में ग्रब भी विद्यमान हैं जो ग्रपनी प्यारी कन्याग्रों को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।"[1]

इसके विपरीत प्रेमचन्द ने ग्रपने उपन्यासों में ग्रादर्श माता-पिता का भी समावेश किया है जो विवाह को मात्र गुड्डे-गुड़ियों का खेल नहीं समझते। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमा का महा दकियानूस पिता बदरीप्रसाद भी इस मामले में काफी उदार है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "बदरीप्रसाद विवाह के विषय में उसकी (प्रेमा) ग्रनुमति ग्रावश्यक समझते थे।"[2] 'कायाकल्प' में यशोदानन्दन कहता है, "स्त्री में कितने ही गुण हों, लेकिन यदि उसकी सूरत पुरुष को पसन्द न ग्रायी, तो वह उसकी नजरों से गिर जाती है, ग्रौर उनका दाम्पत्य जीवन दुःखमय हो जाता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर ग्रौर कन्या में दो चार बार मुलाकात भी हो जानी चाहिये। कन्या के लिये तो वह ग्रनिवार्य है। पुरुष को स्त्री पसन्द न ग्रायी तो वह ग्रौर शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न ग्राया, तो उसकी सारी उम्र रोते ही गुजरेगी।"[3] इसी उपन्यास में एक स्थल पर मनोरमा कहती है, "जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है, वह विवाह ही नहीं है।"[4] "गोदान" में मेहता रायसाहब से कहते हैं, "ग्राप ग्रपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व ग्राप क्यों ग्रपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब ग्रापका लड़का बालिग है। ग्रौर ग्रपना नफा-नुकसान समझता है। कम से कम मैं तो शादी जैसे महत्व के मुग्रामले में प्रतिष्ठा का कोई स्थान नहीं समझता।"[5] 'कायाकल्प' में लौंगी एक तरह से सभी माता-पिताग्रों को सचेत करती हुई कहती है, "लड़की कंगाल को दे दे, पर बूढ़े को न दे। गरीब रहेगी तो क्या, जन्म भर का रोना झींकना तो न रहेगा।"[6] कुछ यही सन्देश मृत्यु शय्या पर पड़ी निर्मला का है, "बच्ची को ग्रापकी गोद में छोड़े जाती हूँ। ग्रगर जीती जागती बचे तो किसी ग्रच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा।...चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही ग्राप से मेरी विनय है।"[7]

---

१. वरदान पृष्ठ ४३-४४
२. प्रतिज्ञा पृष्ठ ३४
३. कायाकल्प पृष्ठ १६
४. वही पृष्ठ ५६
५. गोदान पृष्ठ ४३४
६. कायाकल्प पृष्ठ १७४
७. निर्मला पृष्ठ १८४

प्रेमचन्द प्रारम्भ में विवाह को धर्म-बन्धन मानते थे। आगे 'गोदान' में उन्होंने विवाह को 'सामाजिक समझौते' के नाम से पुकारा है। लेकिन उनके सामाजिक समझौते की भावना में और धर्म-बन्धन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। 'गोदान' में मेहता-मालती वार्तालाप प्रेमचन्द के सामाजिक समझौते की भावना को स्पष्ट कर देता है। मेहता कहते हैं, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।

"तो आप तलाक के विरोधी हैं, क्यों ?

"पक्का।"[१] फिर भी विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की मान्यताएँ स्पष्ट नहीं हो सकी हैं। 'कर्मभूमि' में वे विच्छेद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। नैना और सुखदा का विवाद इस बात का प्रमाण है। "अब कोई इस भ्रम में नहीं रहे कि पति चाहे जो करे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके पाँव दबायेगी और वह उससे सदा हँसकर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वह दिन लद गए।

नैना बहस कर बैठी, "तुम कहती हो, पुरुष के आचार-विचार की परीक्षा लेनी चाहिये। क्या परीक्षा कर लेने पर धोखा नहीं होता ? आये दिन तलाक क्यों होते रहते हैं ?

सुखदा बोली—"तो इसमें क्या बुराई है ? यह तो नहीं होता कि पुरुष तो गुलछर्रे उड़ाए और स्त्री उसके नाम को रोती रहे।...तलाक की प्रथा यहाँ हो जाने दो, फिर मालूम होगा कि हमारा जीवन कितना सुखी है।"[२] 'गोदान' 'कर्मभूमि' के बाद लिखा गया है। अतः 'गोदान' के विचारों को ही अन्तिम, मान्यता दी जानी चाहिये।

वैवाहिक समस्या का आखिर क्या हल है ? प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर युवकों को नैतिक दृढ़ता का सन्देश दिया है और उनके सामने आदर्श पात्र उपस्थित किए हैं वहाँ दूसरी ओर उन्होंने युवतियों को भी वर्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने के लिये ललकारा है। 'कर्मभूमि' की सकीना का आदर्श क्या हमारी अनेक वैवाहिक असंगतियों और कुरीतियों को दूर करने में उपयोगी प्रमाणित नहीं हो सकता ? सकीना कहती है, "मैं शादी नहीं करना चाहती, बस। जब तक कोई ऐसा आदमी न हो, जिसके साथ मुझे आराम से जिन्दगी बसर होने का इतमीनान हो, मैं यह सरदर्द नहीं लेना चाहती। तुम मुझे ऐसे घर में डालने जा रही हो, जहाँ जिन्दगी तल्ख हो जायगी। शादी

१. गोदान पृष्ठ ८०-८१
२. कर्मभूमि पृष्ठ २०५

की मंशा यह नहीं है, कि आदमी रो-रोकर दिन काटे।"[१] इस प्रकार प्रेमचन्द ने वैवाहिक समस्या के समस्त पहलुओं पर विचार करने के बाद समाज के सामने जो रास्ता रखा है वह कोई कानून का रास्ता नहीं है, और न वह अव्यावहारिक ही है। समाज के नैतिक मल्यों में परिवर्तन हुए बिना प्रस्तुत समस्या का कोई ठोस और स्थायी हल मिलना असम्भव नहीं तो, दुर्लभ अवश्य है।

---

१. वही पृष्ठ १०६-१०७

पारिवारिक जीवन के पहलू

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे। उन्होंने अपने प्रायः सभी उपन्यासों को समस्या केन्द्रित रखा है, इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनमें पाये जानेवाले ऐसे विचार हैं जो विभिन्न समस्याओं की ओर सहज ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। इस प्रकार उनके एक उपन्यास में यदि एक या दो समस्याएँ प्रमुख होती हैं तो दूसरी ओर अन्य समस्याओं का प्रासंगिक स्पर्श भी होता है, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द में यह प्रवृत्ति 'वरदान', 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक पाई जाती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त पारिवारिक समस्याओं का भी उद्घाटन हुआ है। इन पारिवारिक समस्याओं का क्षेत्र भी मध्यम-वर्गीय समाज है, लेकिन आज संयुक्त पारिवारिक जीवन विश्रृंखल हो रहा है। घर-घर में कलह और उसके दुष्परिणामों के समाचार प्रायः सुनने को मिलते हैं। प्रेमचन्द ने पारिवारिक झगड़ों के कारणों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है और आपसी कलह से त्रस्त भारतीय परिवारों को सुख और शान्ति का मार्ग भी बताया है। इस पारिवारिक जीवन के अनेक पहलू हैं, जिसमें प्रमुख पति-पत्नी सम्बन्ध है। इस पहलू का आधार वैवाहिक समस्या है, पर सफल दाम्पत्य-जीवन के लिये कुछ और भी चाहिये। प्रेमचन्द ने पति-पत्नी सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके इस पहलू पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

संयुक्त परिवार की समस्या, 'प्रेमाश्रम' में विशेष रूप से मिलती है। वैसे 'रंगभूमि', 'निर्मला', 'गोदान', 'गबन', 'कर्मभूमि' आदि में भी उसका अपना स्थान है। भारतीय परिवारों का संयुक्त-जीवन क्यों विश्रृंखल हो रहा है? वे कौन से प्रमुख कारण हैं जिनकी वजह से पारिवारिक सुख और शान्ति दुर्लभ हो गई है, आदि विषयों पर प्रेमचन्द के उपर्युक्त उपन्यास पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। प्रेमचन्द ने बताया है कि चाहे वे संयुक्त परिवार निम्न-वर्ग के हों और चाहे मध्यम-वर्ग के—दोनों की विश्रृंखलता का मूल कारण आर्थिक है। अर्थ ने आज भाई-भाई को, पिता-पुत्र को एक दूसरे का शत्रु बना दिया है। पारिवारिक अन्य झगड़ों की जड़ भी यही आर्थिक प्रश्न है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर

बरसों के चले आये संयुक्त परिवार को आर्थिक कारणों से ही भंग कर देना चाहता है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "अब उन्हें रात-दिन यही दुश्चिन्ता रहती थी कि किसी तरह चचा साहब से अलग हो जाऊँ। यह विचार सर्वथा उनके स्वार्थानुकूल था। उनके ऊपर केवल तीन प्राणियों के भरण-पोषण का भार था, आप, स्त्री और भावज। लड़का अभी दूध पीता था। इलाके की आमदनी का बड़ा भाग प्रभाशंकर के काम आता था, जिनके तीन पुत्र थे, दो पुत्रियाँ, एक बहू, एक पोता और स्त्री-पुरुष आप। ज्ञानशंकर अपने पिता के परिवार-पालन पर झुँझलाया करते। आज तीस साल पहले वह अलग हो गये होते तो आज हमारी दशा ऐसी खराब न होती।"[1] 'रंगभूमि' में ताहिरअली के परिवार के साथ भी आर्थिक प्रश्न प्रमुख है। ताहिरअली की स्त्री अपने देवरों पर आक्षेप करती है, "ये भाई बन्द एक भी काम न आयेंगे। ज्यों ही अवसर मिला, पर झाड़कर निकल जायेंगे, तुम खड़े ताकते रह जाओगे।"[2] प्रेमचन्द ने मध्यम-वर्ग में पायी जाने वाली आर्थिक स्वार्थ की भावना का कारण पाश्चात्य सभ्यता माना है। 'प्रेमाश्रम' में वे इसी ओर संकेत करते हैं। प्रभाशंकर के मुख से वे कहलाते हैं, "यह (ज्ञानशंकर) पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है, जो लड़के को बालिग होते ही माता-पिता से अलग कर देती है। उसने वह शिक्षा पाई है जिसका मूलतत्व स्वार्थ है। उसमें अब दया, विनय, सौजन्य कुछ भी न रहा। वह अब केवल अपनी इच्छाओं का, इन्द्रियों का दास है।"[3] पश्चिमी-सभ्यता एक अंश तक इसके लिये उत्तरदायी हो सकती है, पर वास्तव में मनुष्य का स्वभाव तक इसके लिये उत्तरदायी है, जिसे आर्थिक विषमताएँ बनाती हैं। 'निर्मला' में अधिकार-भावना के कारण पारिवारिक कलह जन्म लेती है, पर इस अधिकार-भावना के पीछे भी आर्थिक कारण ही है। रुक्मिणी और निर्मला के पारिवारिक सम्बन्धों के बिगड़ने पर प्रेमचन्द व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "जब से वकील साहब ने निर्मला के हाथ में रुपये पैसे देने शुरू किए हैं, रुक्मिणी उसकी आलोचना करने पर आरूढ़ हो गई थी। उन्हें मालूम होता था कि प्रलय होने में बहुत थोड़ी कसर रह गई है। लड़कों को बार-बार पैसों की जरूरत पड़ती। जब तक खुद स्वामिनी थी, उन्हें बहला दिया करती थी। अब सीधे निर्मला के पास भेज देती। निर्मला को लड़कों का चटोरापन अच्छा न लगता था। कभी-कभी पैसे देने से इन्कार कर देती। रुक्मिणी को अपने वाग्बाण सर करने का अवसर मिल जाता—अब तो मालकिन हुई है, लड़के काहे को जियेंगे। बिना माँ के

---

१. प्रेमाश्रम पृष्ठ २८

२. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ १२३

३. प्रेमाश्रम पृष्ठ ३२७

बच्चे को कौन पूछे ? रुपयों की मिठाइयाँ खा जाते थे, अब धेले-धेले को तरसते हैं। निर्मला अगर चिढ़कर किसी दिन बिना कुछ पूछे-ताछे पैसे दे देती, तो देवी जी उसकी दूसरी ही आलोचना करतीं—इन्हें क्या, लड़के मरें या जिएँ, इनकी बला से, माँ के बिना कौन समझाये कि बेटा, बहुत मिठाइयाँ मत खाओ। आयी गयी तो मेरे सिर जायगी, उन्हें क्या।"[1] यहाँ पाश्चात्य संस्कारों का प्रश्न ही नहीं आता। निःसन्देह जब तक आर्थिक मामलों में संयुक्त परिवार के सदस्य सहमति से कोई निश्चत योजना अपने सामने नहीं रखते, तब तक पारिवारिक एकता स्थापित नहीं हो सकती। जिस परिवार में ऐसी योजना नहीं है, वहाँ आपसी प्रेम का नितांत अभाव है। और वहाँ प्रायः झगड़े होते रहते हैं, जो बँटवारे के बाद ही समाप्त होते हैं।

पारिवारिक जीवन का प्रमुख स्तम्भ दाम्पत्य जीवन है। पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रेमचन्द ने प्रायः अपने प्रत्येक उपन्यास में चर्चा की है। इन सम्बन्धों का आरम्भ विवाह के बाद होता है जो सुखी दाम्पत्य-जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन सम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर प्रेमचन्द की दृष्टि गई है। वैसे देखा जाय तो प्रत्येक उपन्यास में दाम्पत्य-जीवन का चित्रण रहता है, पर वह चित्रण कथा-विकास को अथवा चरित्रांकन को सामने रखकर किया जाता है; लेकिन प्रेमचन्द की यह सीमा नहीं है। वे पारिवारिक समस्या के इस पहलू पर प्रमुखता से विचार करते हैं, कथा-विकास और चरित्रांकन पर नहीं। सुखी दाम्पत्य-जीवन किस प्रकार अपनाया जा सकता है, उसकी झलक भी वे अपने उपन्यासों में देते हैं।

दाम्पत्य-जीवन में सुख और आनन्द का अभाव क्यों पाया जाता है ? पति-पत्नी के आपसी मधुर सम्बन्ध क्यों लोप हो रहे हैं ? प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में अनेक कारण उपस्थित किये हैं, जैसे पति-उपेक्षा, अधिकार-भावना, अविश्वास, कलह, व्यवहार, पुराने और नए विचारों का संघर्ष, स्त्री को समझने की कमी, पातिव्रत का एकांगी आदर्श आदि। 'प्रतिज्ञा' में सुमित्रा और कमलाप्रसाद का दाम्पत्य-जीवन पति-उपेक्षा के फलस्वरूप ही धीरे-धीरे विषाक्त हो उठता है। स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व न समझनेवाले तथा उसे एक निर्जीव मूक यन्त्र समझनेवाले घरों में दाम्पत्य सुख का आभास असम्भव है। पूर्णा सुमित्रा से उसके पति कमला-प्रसाद के आने के बारे में पूछती है। सुमित्रा द्वार की ओर भयभीत नेत्रों से देखती हुई कहती है, "अभी नहीं, बारह ही तो बजे हैं। इतनी जल्दी क्यों आयेंगे ? न एक, न दो, न तीन। मेरा विवाह तो इस महल से हुआ है। लाला बदरीप्रसाद

१. निर्मला पृष्ठ ३६

की बहू हूँ, इससे बड़े सुख की कल्पना कौन कर सकता है ?"[१] सुमित्रा के हृदय की वेदना उपर्युक्त व्यंग्य में साकार हो उठी है। 'प्रतिज्ञा' में कमलाप्रसाद को एक लम्पट और व्यभिचारी पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, अतः सुमित्रा के प्रति उपेक्षा का भाव उसमें पाया जाना स्वाभाविक है, पर यह बात नहीं कि यह उपेक्षा भाव ऐसे ही पुरुषों में पाया जाता हो। 'रंगभूमि' में इन्दु और महेन्द्र के दाम्पत्य-जीवन की भी बहुत कुछ यही ग्रन्थि है। इन्दु सोफिया से कहती है: "किसी देश-सेवक से विवाह न करना, नहीं तो पछताओगी। तुम उसके अवकाश के समय की मनोरंजन-सामग्री मात्र रहोगी।"[२] पुरुष-पिट्ठू समाज में नारी के स्वाभिमान का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। अतः स्त्री का जीवन बड़ा दयनीय हो जाता है। उसके दाम्पत्य-जीवन की कल्पना चूर-चूर हो जाती है। पुरुष-पिट्ठू समाज का आधार आर्थिक है। स्त्री की वह ऐसी सारी शक्तियाँ नष्ट कर देता है जिससे वह आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो सके। निदान उसे पुरुष की चाकरी करनी पड़ती है। पातिव्रत के उच्च आदर्शों के नाम पर इस प्रकार दाम्पत्य-जीवन की सारी सरसता कटुता में बदल जाती है। प्रायः कलह हुआ करती है। ऐसे घरों में शान्ति बिरले ही देखने में आए। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा व 'निर्मला' की कल्याणी के जीवन के ऐसे चित्र प्रेमचन्द ने स्पष्ट रेखाओं के साथ चित्रित किए हैं। सुमित्रा विद्रोह के स्वर में कहती है, "स्त्री पुरुष के पैरों की जूती के सिवा और है ही क्या ? पुरुष चाहे जैसा हो, चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो, स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण-रज धो-धो कर पिये। मैंने कौन-सा अपराध किया था, जो उन्हें मनाने जाती।"[३] एक और स्थल पर सुमित्रा का कुचला हुआ अभिमान पति को चुनौती देता है, "कमला ने कमरे में कदम रखते ही कठोर स्वर में कहा, "बैठी गप्पें लड़ा रही हो। जरा सी अचकन माँग भेजी, तो उठते न बना। बाप से कहा होता, किसी करोड़पति सेठ के घर ब्याहते। यहाँ का हाल तो जानते थे।

सुमित्रा ने तड़प कर कहा—बाप-दादे का नाम न लेना, कहे देती हूँ। यह चारपाई पर कुंजी पड़ी है और वह सामने सन्दूक है। अचकन लो और बाहर जाओ। यहाँ कोई तुम्हारी लौंड़ी नहीं है। जब अपनी कमाई खिलाना तब डाँट लेना। बाप यह नहीं जानते थे कि यह ठाट बाहर ही बाहर है।...

—मेरी अचकन निकालती हो या नहीं ?

—अगर भलमनसी से कहते हो तो हाँ, रोब से कहते हो तो नहीं।

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ३१

२. रंगभूमि (भाग १) पृ० ६७

३. प्रतिज्ञा पृष्ठ ५५

—मैं तो रोब से ही कहता हूँ।

—तो निकाल लो।

—तुम्हें निकालना पड़ेगा ?

—मैं नहीं निकालूंगी।...

—तुम अपने घर चली जाओ।

—मेरा घर यही है। यहाँ से और कहीं नहीं जा सकती।

—लखपती बाप का घर तो है।

—बाप का घर था जब था, अब यही घर है। मैं अदालत से लड़कर ५००) रु० महीने ले लूंगी लाला, इस फेर में न रहना। पैर की जूती नहीं हूँ कि नई थी तो पहना, पुरानी हो गई तो निकाल फेंका।"[१]

इसी प्रकार 'निर्मला' में उदयभानु-कल्याणी दम्पति के जीवन में यही बात पाई जाती है।

"कल्याणी—इसलिए न कि जानते हो, इसे कहीं ठिकाना नहीं है, मेरी ही रोटियों पर पड़ी हुई है, या और कुछ ? जहाँ कोई बात कहो, बस सिर हो गये, मानों मैं घर की लौंडी हूँ, मेरा केवल रोटी और कपड़े का नाता है। जितना ही मैं दबती हूँ, तुम और भी दबाते हो।

उदयभानु—मैं कमाकर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता हूँ। किसी को बोलने का अधिकार नहीं है।"[२] अतः जब तक स्त्री आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करती, उसके स्वाभिमान को इसी प्रकार पद-पद पर ठेस पहुँचाई जायेगी। पुरुष-पिट्ठू समाज में स्त्री को नौकरी नहीं करने दी जाती, उसे पति अपना दास बनाकर रखना चाहता है। स्पष्ट है, जहाँ पति-पत्नी के सम्बन्धों का यह आधार हो वहाँ सफल और सुखी दाम्पत्य-जीवन दुर्लभ है।

स्त्री और पुरुष के इस आर्थिक पहलू पर 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द बराबर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'प्रतिज्ञा' में सुमित्रा प्रश्न करती है, "आखिर पुरुष अपनी स्त्री पर क्यों इतना रोब जमाता है ? बहन, कुछ तुम्हारी समझ में आता है ?"[३] इस प्रश्न का उत्तर पूर्णा ने बड़े ही यथार्थ ढंग से दिया है, "मर्द स्त्री से बल में, बुद्धि में, पौरुष में अक्सर बढ़कर होता है, इसलिए उसकी हुकूमत है। जहाँ पुरुष के बदले स्त्री में यही गुण हैं, वहाँ स्त्रियों की ही चलती है। मर्द कमाकर खिलाता है, क्या रोब जमाने से भी जाय ?"[४]

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ६६

२. निर्मला पृष्ठ १०

३. प्रतिज्ञा पृष्ठ ६१

४. वही पृष्ठ ६१

और सुमित्रा इसी बात को और जोर देकर कहती है, "बस, बस, तुमने लाख रुपये की बात कह दी। यही मैं भी समझती हूँ। बेचारी औरत कमा नहीं सकती, इसलिए उसकी यह दुर्गति है।"[१]

'मंगलसूत्र' में सन्तकुमार और पुष्पा दम्पति का जीवन भी यही कहानी कह रहा है। सन्तकुमार ने पुष्पा से, एक यथार्थ बात को पुष्ट करने के लिये कहा था, "जो स्त्री पुरुष पर अवलम्बित है, उसे पुरुष की हुकूमत माननी पड़ेगी।"[२] और जब मौखिक झगड़े के बाद पुष्पा सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर स्वरूप पान का एक बीड़ा लगाकर सन्तकुमार को देती हुई कहती है, "अब से कभी यह बात मुँह से न निकालना अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरों के घर में करूँ, तो अपना निर्वाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो? तब मैं जो कुछ कमाऊँगी वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज़ पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहो मुझे घर से निकाल सकते हो।"[३] यहाँ प्रेमचन्द भारतीय नारी के स्वाभिमान की ही रक्षा नहीं करते वरन् उसको समाज में उचित स्थान का अधिकारी भी घोषित करते हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश नारी पात्र विद्रोही व्यक्तित्व से परिपूर्ण हैं। पुरुष-पिट्ठू समाज स्त्री के आत्मबल को तरह-तरह से समाप्त करने के षड्यन्त्र रचता है, पुष्पा के इस कथन में कितनी सत्यता है, "हम भी तो वही आत्मबल और शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती हैं लेकिन तुम लोगों के मारे जब कुछ चलने पावे। मर्यादा और आदर्श और जाने किन-किन बहानों से हमें दबाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाये रखने की कोशिश करते रहते हो।"[४] पारिवारिक जीवन में अधिकार-भावना का यह आर्थिक पहलू कम या अधिक मात्रा में अधिकांश परिवारों में देखा जाता है। जहाँ स्त्री में सहनशीलता अधिक होती है वहाँ ऊपरी शान्ति तो अवश्य पाई जाती है, पर वहाँ दाम्पत्य-जीवन का रस उपलब्ध नहीं हो सकता। तथा जिस परिवार के नारी-वर्ग में चेतना है, वहाँ स्त्री-पुरुष में इस अधिकार-भावना को लेकर प्रायः संघर्ष होते रहते हैं जो कभी-कभी तो अप्रिय परिणामों के जनक होते हैं। 'कायाकल्प' में रोहिणी की सूखी हँसी और निम्न विवशताजन्य बोल भारतीय स्त्री की दयनीय स्थिति को और स्पष्ट करते हैं, "आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं। और लोग छिपे-छिपे करते हैं, राजा लोग

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ ९३
२. मंगलसूत्र पृष्ठ १०
३. वही पृष्ठ १२
४. वही पृष्ठ १४

वही काम खुले-खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी उनके पाँव की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है। यह आपका दोष नहीं, हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसीलिए बनाया है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिये, गिला या मान करने का दंड बहुत कठोर होता है, और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है।"[१]

'सेवासदन' में सुमन-गजानन्द का दाम्पत्य-जीवन असफल रहता है और भयानक परिणाम के रूप में सामने आता है, चूँकि सुमन को अपना स्वाभिमान प्यारा था, अतः वह घर छोड़कर भाग जाती है और वेश्या-जीवन अपनाने के लिये बाध्य होती है। सुमन के इस प्रसंग पर प्रेमचन्द आपसी व्यवहार को प्रधानता देते हैं। पति-पत्नी के झगड़ों का कारण कभी-कभी एक दूसरे के प्रति अशिष्ट व्यवहार भी होता है। सुमन के चले जाने पर स्वयं गजानन्द उसके कारणों का विश्लेषण करता हुआ कहता है, "मेरी असज्जनता और निर्दयता, सुमन की चंचलता और विलास दोनों ने मिलकर हम दोनों का सर्वनाश कर दिया। मैं अब उस समय की बातों को सोचता हूँ तो ऐसा मालूम होता है कि एक बड़े घर की बेटी से ब्याह हो जाने पर उसका उचित आदर-सम्मान नहीं किया। निर्धन था, इसलिये आवश्यक था कि मैं धन के अभाव को अपने प्रेम और भक्ति से पूरा करता। मैंने इसके विपरीत उससे निर्दयता का व्यवहार किया। उसे वस्त्र और भोजन का कष्ट दिया। वह चौका बरतन, चक्की चूल्हे में निपुण नहीं थी, और न हो सकती थी, पर उससे वह सब काम लेता था और जरा भर देर हो जाती तो बिगड़ता था। अब मुझे मालूम होता है कि मैं ही उसके घर से निकलने का कारण हुआ, मैं उसकी सुन्दरता का मान न कर सका, इसलिये सुमन का भी मुझसे प्रेम नहीं हो सका।"[२] अनेक परिवारों में दाम्पत्य-जीवन की समस्या नये और पुराने आदर्शों के संघर्ष से जन्म लेती है। धर्म और पातिव्रत के नाम पर हिन्दू-नारी का शताब्दियों से शोषण हो रहा है। आधुनिक नारी अपने इस शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। अब वह पतिदेव की आज्ञानुसार सिर के बल चलना अपना धर्म नहीं समझती। 'रंगभूमि' में इन्दु एक ऐसी ही नारी है। उसकी माँ जाह्नवी पुराने आदर्शों के अनुरूप बेटी को भी ढालना चाहती है पर इन्दु उसका खुला विरोध करती है। जाह्नवी कहती है, "मैं तुम्हें पति-परायण सती देखना चाहती हूँ। जिसे अपने पुरुष की आज्ञा या इच्छा के सामने अपने मानापमान का जरा भी विचार नहीं होता। अगर वह तुम्हें सिर के बल चलने को कहे तो भी तुम्हारा धर्म है कि सिर के बल चलो।" इन्दु उत्तर देती है, "आप मुझसे वह करने को कहती हैं, जो मेरे

---

१. कायाकल्प पृष्ठ ३७५-७६

२. सेवासदन पृष्ठ २६२

लिये असम्भव है।"[१] इन्दु का यह विद्रोह उच्छृंखलता की कोटि का नहीं है, वरन् अपना सुदृढ़ वैचारिक पहलू रखता है, "स्त्री का कर्तव्य है कि अपने पुरुष की सहगामिनी बने। पर प्रश्न यह है, क्या स्त्री का अपने पुरुष से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है? इसे तो बुद्धि स्वीकार नहीं करती।"[२] नारी का यह पृथक् अस्तित्व क्यों लोप हो रहा है? 'मंगल सूत्र' में तिब्बी कहती है, "मरदों ने स्त्रियों के लिये और कोई आश्रय छोड़ा ही नहीं। पातिव्रत उनके अन्दर इतना कूट-कूट कर भरा गया है कि उनका अपना व्यक्तित्व रहा ही नहीं। वह केवल पुरुष के आधार पर जी सकती है। उसका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं।"[३] स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को सुधारने के लिये पुराने थोथे आदर्शों को तिलांजलि देना अनिवार्य है। प्रेमचन्द ने समाज के सामने जहाँ एक सन्तुलित दृष्टिकोण रखा है वहाँ प्रतिक्रियावादियों से कहीं समझौता भी नहीं किया है। पुरुष की एक और दुर्बलता की ओर प्रेमचन्द ने संकेत किया है। वह दुर्बलता है उसकी स्त्री को समझने की कमी। मनोरमा कहती है, "पुरुष कितना ही विद्वान और अनुभवी हो, पर स्त्री को समझने में असमर्थ ही रहता है।"[४] निःसन्देह यह नासमझी भी अनेक दुर्घटनाओं की जनक होती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में दाम्पत्य-जीवन के संघर्षों के मूल कारणों पर जगह-जगह प्रकाश डाला है, पर वे उन मूल कारणों पर समाज का ध्यान आकृष्ट करके ही सन्तोष नहीं कर लेते, प्रत्युत सुखी दाम्पत्य-जीवन का मार्ग भी बताते हैं। स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्धों के लिये प्रेमचन्द उनमें चरित्रगत और स्वभावगत कुछ बातें चाहते हैं, जो एकपक्षीय नहीं हैं। 'कायाकल्प' में रोहिणी कहती है, "सीता बनाने के लिये राम जैसा पुरुष चाहिये।"[५] अतः प्रेमचन्द ने केवल एक पक्ष की ही वकालत नहीं की है। वे स्त्री में सेवाभाव, प्रेम, श्रद्धा आदि सद्गुणों का होना सफल दाम्पत्य-जीवन के लिये आवश्यक समझते थे। 'वरदान' में चन्द्रा और राधाचरण के सुखी दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द लिखते हैं, "चन्द्रा में चाहे और गुण न हों, परन्तु पति की सेवा वह तन-मन से करती थी।...इन्हीं कारणों ने राधाचरण को स्त्री का वशीभूत बना दिया था। प्रेम रूप, गुण आदि सब त्रुटियों का पूरक है।"[६] 'गोदान' में मेहता का

---

१. रंगभूमि (भाग १) पृष्ठ १३६
२. वही पृष्ठ २६१-२६३
३. मंगलसूत्र पृष्ठ ६८
४. कायाकल्प पृष्ठ ३३८
५. वही पृष्ठ ३७७
६. वरदान पृष्ठ २६

यह कथन भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करता है, "सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्भव है। सेवा ही वह सीमेंट है, जो दम्पति को जीवनपर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।"[1] 'कर्मभूमि' में सुखदा अमरकान्त के दाम्पत्य-जीवन की नीरसता का यही कारण है कि वहाँ सुखदा में वास्तविक प्रेम और समर्पण का अभाव है। प्रेमचन्द सुखदा के इस अभाव को स्पष्ट करने के लिये सकीना को सामने लाते हैं जो दाम्पत्य-जीवन के आदर्शों की वाहिका है। सकीना को देखकर सुखदा आत्मालोचन करती है, "ऐसी ही स्त्रियाँ पुरुषों के हृदय पर राज्य करती हैं। मेरे हृदय में कभी इतनी श्रद्धा नहीं हुई। मैंने उनसे हँसकर बोलने, हास-परिहास करने और अपने रूप और यौवन के प्रदर्शन में ही अपने कर्त्तव्य का अन्त समझ लिया, न कभी प्रेम किया, न प्रेम पाया।"[2] सुखदा और सकीना का अन्तर बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, "सुखदा अपनी प्रतिभा और गरिमा से उस पर शासन करती थी। वह शासन उसे प्रिय था। सुखदा में अधिकार का गर्व था। सकीना में समर्पण की दीनता थी। सुखदा अपने को पति से बुद्धिमान और कुशल समझती थी। सकीना समझती थी मैं इनके आगे क्या हूँ?"[3]

प्रेमचन्द के दाम्पत्य-जीवन के विचारों में पवित्रता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। पुराने दकियानूसी विचारों का जहाँ वह विरोध करते हैं वहाँ उच्छृंखलता का समर्थन भी नहीं करते। उनके विचारों में भारत की प्राचीन गरिमा के अनुरूप सांस्कृतिक गहराई है। 'प्रतिज्ञा' में दाम्पत्य-जीवन का सुख मूल बताते हुए वे कमलाप्रसाद और सुमित्रा के जीवन पर टिप्पणी करते हैं, "धर्म का ज्ञान, जो दाम्पत्य-जीवन का सुख मूल है, दोनों में किसी को न था।"[4] प्रेमचन्द पत्नी को सच्चे मन्त्री, सच्चे सहायक और सच्चे मित्र के रूप में देखना चाहते हैं। यदि दोनों में विचार और आदर्शों की एकता हो तो दाम्पत्य-जीवन दोनों के विकास में उपयोगी सिद्ध होगा। 'कायाकल्प' में यशोदानन्दन कहता है, "यदि स्त्री और पुरुष के विचार और आदर्श एक से हों, तो स्त्री-पुरुष के कामों में बाधक होने के बदले सहायक हो सकती है।"[5]

---

१. गोदान पृष्ठ २२१
२. कर्मभूमि पृष्ठ २०४
३. वही पृष्ठ ११२
४. प्रतिज्ञा पृष्ठ ४८
५ कायाकल्प पृष्ठ १५

लेकिन प्रेमचन्द स्त्री को सुधरने का ही संकेत नहीं देते वरन् विपरीत दशा में समझौता न करने के लिये भी तैयार करते हैं, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन करते हैं तथा उसके स्वाभिमान की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरुष-वर्ग के अत्याचार के विरोध में प्रेमचन्द 'मंगलसूत्र' में पुष्पा जैसी स्त्रियों का सर्जन करते हैं जो अपनी दुर्बलताओं को त्याग कर पुरुष को चुनौती देती है, "जानते हैं (पुष्पा के पति) कि इसे चाहे जितना सताओ, कहीं जा नहीं सकती...एक बार वह (पुष्पा) विलास का मोह त्याग दे और त्याग करना सीख ले, फिर उस पर कौन रोब जमा सकेगा, फिर वह क्यों किसी से दबेगी।"[१]

प्रेमचन्द की दृष्टि पारिवारिक समस्या से लेकर सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं तक समान रूप से गई है। पारिवारिक क्षेत्र की महत्ता को उन्होंने कम करके नहीं देखा है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास भारतीय जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भली-भाँति प्रकाश डालते हैं और सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं।

---

३. मंगलसूत्र पृ० २७

समस्यामूलक उपन्यास और प्रेमचन्द

[१]

उपन्यास का अत्याधुनिक स्वरूप समस्यामूलक है। समस्यामूलक उपन्यास जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है किसी समस्या विशेष को लेकर चलते हैं। समस्या पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, पारलौकिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। सामाजिक-उपन्यास और सामाजिक-समस्यामूलक-उपन्यास में वस्तु-विन्यास सम्बन्धी अन्तरभेद है; ठीक इसी प्रकार राजनीतिक उपन्यास, पारिवारिक उपन्यास आदि के सम्बन्ध में है। समस्यामूलक उपन्यास वस्तु को प्रधानता नहीं देते; वे कहीं-कहीं औपन्यासिक रचनातन्त्र के शास्त्रीय नियमों तक की उपेक्षा कर जाते हैं, पर समस्या को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के कारण इस उपेक्षा से पाठक को कृति के प्रति अरुचि नहीं होती। समस्या-मूलक उपन्यास औपन्यासिक तत्वों में सबसे अधिक महत्व अपनी समस्या को ही देते हैं। शेष तत्व उनमें मिलेंगे पर अन्य औपन्यासिक प्रकारों से किंचित भिन्न।

समस्यामूलक उपन्यास के दो प्रकार हैं—

(१) जिसमें केवल एक समस्या हो; और

(२) जिसमें एक प्रधान-समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी गुँथी हुई हों, पर, उनका स्थान गौण हो।

वास्तव में देखा जाय तो केवल एक समस्या वाले उपन्यास ही समस्यामूलक उपन्यास नाम से पुकारे जाने के अधिकारी हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास समस्यामूलक उपन्यास की श्रेणी में इस कारण परिगणित किये जाते हैं क्योंकि उपन्यासकार का ध्यान उनमें भी समस्याओं की ओर ही केन्द्रित रहता है। स्वरूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी, उद्देश्य में एकता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त वे एक दूसरे के अत्यधिक निकट भी हैं; विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः समस्यामूलक उपन्यास की विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास सम्मिलित किए जाते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासों का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं। जीवन की नाना समस्याओं का उद्घाटन

तथा उनका हल; यद्यपि हल सदैव अपेक्षित नहीं होता, आज के उपन्यासकार का प्रधान कर्म है। उपन्यासकार एक सामाजिक प्राणी होता है; वह अपने समय की समस्याओं से विमुख नहीं रह सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं, "लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती हैं उनको गोचर रूपमें सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"[1] प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं, "अब वह (साहित्य) केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है।"[2] अपने युग की समस्याओं के प्रति लेखक को उदासीन नहीं ही रहना चाहिए। रेल्फ़ फ़ाक्स के शब्दों में, "क्या उपन्यासकार दुनिया की समस्याओं की, जिनमें वह रहता है, उपेक्षा कर सकता है? क्या वह युद्ध के लिए होने वाले शोर के प्रति अपने कान बन्द कर सकता है; अपने देश की दशा के प्रति आँखें बन्द रख सकता है, क्या वह अपने चारों ओर भयानक वातावरण देख कर अपना मुँह बन्द रख सकता है जबकि राजकीय रेहन के नाम पर व्यक्तिगत लोलुपता को ज्यों-का-त्यों कायम रखने के लिये जीना दूभर कर दिया गया है। दिन-पर-दिन उपन्यासकार यह अनुभव करने लगे हैं कि आँख, कान और स्वर वास्तव में चेतना के अंग हैं और मानवीय दुनिया को शक्ति प्रदान करने के लिये उत्तरदायी हैं; वे किसी आध्यात्मिक विश्व के निष्क्रिय दास मात्र नहीं हैं जैसा कि कला के क्षेत्र में परम्परागत मान्यता रही है।"[3] यही उपन्यासकार का युग-धर्म है। उसे अपने समय की समस्याओं

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५३६
२. कुछ विचार पृष्ठ ८
3. The Novel and the People : Ralph Fox, Page 7.

"can a novelist remain indifferent to the problems of the world in which he lives? can he shut his ears to the clamour of preparing war, his eyes to the state of his country, can he keep his mouth closed when he sees horror around him and life being denied daily in the name of a state pledged to maintain the sanctity of private, greed? More and more novelists, are beginning to feel that eyes, ears and voice are, infact, organs of senses, responsible to the stimulus of the human world, and not mere passive servants of a spiritual world supposed traditionally to be the domain of art.

म काफी गहरे डूब जाना होता है। समस्यामूलक उपन्यासकार को कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। उसका उद्देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे मात्र व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हैं; किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को, आवश्यकताओं को सम्मुख नहीं रखते। समस्यामूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण है।

औपन्यासिक तत्व समस्यामूलक उपन्यासों में सीमित और विशिष्ट दृष्टिकोण लेकर आते हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल आदि सभी तत्व किंचित परिवर्तित रूप में इनमें दृष्टिगोचर होंगे। जहाँ तक वस्तु का सम्बन्ध है समस्यामूलक उपन्यास में उसके विन्यास का विशेष महत्त्व है। समस्या को आधार मानकर उपन्यासकार वस्तु की रचना करता है। जीवन की घटनाओं का वह इस तरह संकलन करता है कि समस्या पाठकों के सामने धीरे-धीरे आती जाय और आगे चलकर पूरे उपन्यास पर छा जाय। इस क्रिया में सामाजिक व राजनीतिक परिपार्श्व की बड़ी अपेक्षा रहती है। सामाजिक व राजनीतिक वातावरण समस्यामूलक उपन्यासों की रंगभूमि है। इसी वातावरण पर समस्या की गम्भीरता निर्भर करती है। समस्या की जटिलता भी सामाजिक या राजनीतिक सीमाओं में ही आबद्ध रहती है; तथा समस्या का हल भी इन्हीं सीमाओं के परिवर्तन या विकास पर निर्भर करता है। समस्यामूलक उपन्यासकार का कर्म ऐतिहासिक उपन्यासकार से भी अधिक बँधा हुआ है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा को मनमानी रूप नहीं दे सकता उसी प्रकार समस्यामूलक उपन्यासकार भी अपने प्रतिपाद्य समाज की स्थिति का वर्णन करते समय उसे अपनी इच्छानुसार नहीं बदल सकता। जिस प्रकार की समस्या उपस्थित हो उसको ज्यों-का-त्यों उसे ग्रहण करना पड़ता है; फिर समाजगत बाधाओं, मर्यादाओं तथा सीमाओं का परिचय कराता हुआ वह समयोचित और देशोचित हल निकालेगा। प्रायः समस्याओं का उत्पन्न होना सामाजिक, पारिवारिक या राजनीतिक दशाओं पर निर्भर करता है। अतः समस्यामूलक उपन्यासकार को अपने समय के समस्त प्रकार के वातावरण की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति और इतिहास का विस्तृत वैज्ञानिक ज्ञान उसको होना चाहिए। हडसन लिखते हैं—"उपन्यासकार जीवन के जो भी क्षेत्र अपने लिखने के लिए चुने उसे वह पूर्ण समझने के पश्चात् ही लिखना प्रारम्भ करे; यह समझ वर्ण्य-विषय के नैकट्य से ही प्राप्त हो सकती है।"[1]

1. An Introduction to the study of Literature (william henry hudson) page 175.

"Whatever aspects of life the novelist may choose to write about, he should write to them with the grasp and thoroughness which can be secured only by familiarity with his material."

यह तथ्य समस्यामूलक उपन्यास के अन्तर्गत विशेष महत्त्व रखता है। समस्यामूलक उपन्यास में कथा का विकास विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर होता है। उपन्यासकार का यहाँ उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं होता। उसे तो यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर अपनी कृति का निर्माण करना होता है। जिस समस्या को लेकर वह चलता है और जो उसका उस समस्या को देखने का दष्टिकोण होता है उसी की पूर्ति-भावना को सामने रख कर वह कथा-सामग्री एकत्र करता है। इस कथा-सामग्री में कोई भी अनावश्यक घटना का समावेश नहीं होना चाहिए। अन्य घटनाओं के समावेश से प्रायः अन्य उपन्यासों की रोचकता बढ़ जाती है, पर, समस्यामूलक उपन्यासों में ऐसा करने से उसके प्रभाव की तीव्रता पर व्याघात होता है। समस्यामूलक उपन्यासकार अपने पाठक का ध्यान एक क्षण भी प्रतिपाद्य समस्या से हटाना नहीं चाहता। उसका मार्ग प्रशस्त राजपथ नहीं है, उसे सँकरी पगडण्डी पकड़ना होती है; और समस्याओं के बीहड़ जंगलों में काफी भीतर पहुँचना होता है। उस पगडण्डी के आसपास या मध्य में जो कुछ है वह उसका है, उसके बाहर के क्षेत्र से उसे कोई सरोकार नहीं।

समस्यामूलक उपन्यास कोई निबन्ध नहीं होता, वह कलात्मक रचना होती है। इसलिए उसमें निहित समस्या से सम्बन्धित विचारों, प्रश्नों व जिज्ञासाओं के लिए अत्यधिक तीव्र व प्रभालशाली घटना की खोज आवश्यक है। घटना साधारण होने पर समस्या उभर नहीं सकती। एक ही समस्या को लेकर नाना उपन्यासों की रचना की जाती है; पर उनकी सफलता-श्रेष्ठता बहुत कुछ घटना पर निर्भर करती है। घटना के चुनाव में समस्यामूलक उपन्यासकार को बड़ा सजग रहना होता है। बिना इसके उसके ऊँचे विचारों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सकता।

कथा-वस्तु में स्वाभाविकता अनिवार्य है। उसके विकास-पथ का ग्राफ वक्र होता है। प्रारम्भ का अंश विस्तृत नहीं होता। मध्य-भाग में समस्या का उभार होता है और चरमोत्कर्ष कई आते हैं तथा द्वन्द्व की तीव्रता बढ़ती जाती है और फिर प्रायः सभी पहलुओं के प्रकाशन के बाद उसका अन्त हो जाता है। समस्यामूलक उपन्यासों का अन्त प्रायः आकस्मिक होता है। उपन्यासकार समस्या को रखता है, उसका विश्लेषण करता है, उसके कारणों पर प्रकाश डालता है, पर, हल सदैव व्यक्त नहीं करता, सुझा भले ही दे। वह पाठकों को सोचने के लिये बाध्य करता है और उनकी विचार-शक्ति को बढ़ाता है। कुछ समस्यामूलक उपन्यासकार हल भी व्यक्त करते हैं और उपन्यास का अन्त धीरे-धीरे कर, एक आदर्श समाज के सामने उपस्थित करते हैं। समस्याओं के हल का निर्देश यदि उपन्यासकार करता है तो वह उपन्यासकार के साथ-साथ नेता का भी काम

करता है। समाज को बदलने के साथ-साथ उसके नव-निर्माण में भी योग देता है; पर यहाँ उसके हल के व्यावहारिक होने का प्रश्न आता है। यहीं पर उपन्यासकार के व्यक्तिगत मन्तव्यों, धारणाओं, विश्वासों, आदि का परिचय मिलता है।

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना उद्देश्य होता है। प्रायः यही देखा जाता है कि उपन्यासकार समस्याओं को अपने उद्देश्य की रोशनी में ही देखते हैं। उनका जीवन-दर्शन समस्याओं को देखने-समझने व हल करने में सदैव आगे रहता है। लेखक का व्यक्तित्व ऐसे उपन्यासों में विशेष रूप से लक्षित होता है। वह सभी चीजों को अपने दृष्टिकोण से देखता है। पर, उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक नहीं होना चाहिए। यदि उसने वस्तुओं को देखने का अपना दृष्टिकोण सामाजिक चेतना व आवश्यकताओं को सामने रख कर बनाया है तो उसकी कृति समाज के लिए स्वस्थकर तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

पात्रों के चरित्र-चित्रण का स्थान समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं के साथ ही रहता है। पात्र इतने स्वतन्त्र नहीं हो सकते जितने चरित्र-प्रधान या घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक का ध्यान पात्रों पर केन्द्रित रहता है जब कि समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं पर। कभी-कभी यह ध्यान इतना अधिक दे दिया जाता है कि पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व तक संकट में पड़ जाता है और वे उपन्यासकार की इच्छा पर नाचने लगते हैं—कठपुतली की तरह। यह एक दोष अवश्य है और प्रत्येक उपन्यासकार को इससे बचना चाहिए। समस्यामूलक उपन्यासकार को भी इस अतिरेक से बचना आवश्यक है। क्योंकि उससे उसके उद्देश्य के दुर्बल पड़ने की सम्भावना रहती है। समस्यामूलक उपन्यास में कथोपकथन केवल कथा के विकास अथवा चरित्रांकन के दृष्टिकोण से नहीं रखे जाते वरन् समस्याओं के उद्‌घाटन करने व उनके कारणों पर प्रकाश डालने के निमित्त होते हैं। लेखक उनके द्वारा अपने विचारों को भली-भाँति प्रकट करता है। प्रायः संवाद लम्बे हो जाते हैं। विचार-प्रधान तो वे होते ही हैं। पात्रों के मुख से लेखक अपने मन्तव्यों को सामने रखता चलता है। शेष उपन्यासों के समान उसका उद्देश्य यह नहीं होता कि संवाद छोटे हों, कथा को आगे बढ़ाएँ, पात्रों की मनोवृत्तियों व स्वभाव पर प्रकाश डाले आदि। अतः समस्यामूलक उपन्यासों में यह स्वाभाविक है कि संवाद कहीं-कहीं लेख व भाषण का रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि उपन्यासकार का प्रयोजन ही वही होता है। आलोचक ऐसे संवाद वाले उपन्यासों पर प्रचार का आक्षेप लगाते हैं। उनका यह आक्षेप संगत नहीं दीखता; क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार का उद्देश्य उपयोगिता से सम्बन्ध रखता है। वह जान-बूझकर उपन्यासों को

प्रचार का माध्यम बनाता है। यदि यह दोष माना भी जाय तो भी उपन्यासकार की चेतनावस्था का जनक है। अतः वह तो अन्ततोगत्वा समस्यामूलक उपन्यास के रचनातन्त्र का एक तत्व ही बन जाता है।

अन्त में, समस्यामूलक उपन्यास और कला का क्या सम्बन्ध है, प्रश्न शेष रहता है। कोई भी रचना बिना कलात्मक हुए प्रभावशाली नहीं हो सकती। कला की ओर से समस्यामूलक उपन्यासकार भी उदासीन नहीं रह सकता। कलाशून्य रचनाओं की अवधि क्षणिक होती है। वे पाठकों को प्रभावित भी नहीं कर सकतीं। लेकिन समस्यामूलक उपन्यासों और कलात्मक उपन्यासों में भेद है। कलात्मक उपन्यासों को कला के दृष्टिकोण से ही परखना चाहिए। जबकि समस्यामूलक उपन्यासों के विश्लेषण का आधार सामाजिक पृष्ठभूमि है। समस्यामूलक उपन्यासों में कला रहती है; लेकिन उनका मूल्यांकन कला की दृष्टि से करना अवैज्ञानिक है। समस्यामूलक उपन्यासकार यदि कहीं-कहीं सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाएँ तो वह अखरता नहीं; क्योंकि ऐसे उपन्यास अपने उद्देश्य में इतने सुदृढ़ होते हैं कि उनका सामूहिक प्रभाव कला-अभाव की पूर्ति कर देता है। वे हमें सोचने के लिये विवश करते हैं। उनका प्रभाव उपन्यास पढ़ लेने के बाद मिटता नहीं है। वे हमारी चेतना और सर्जना-शक्ति को क्रियाशील करते हैं।

समाज अपनी समस्याओं से परिचित तो रहता ही है; बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भी अपने भाषणों से उसे उन समस्याओं से संघर्ष करने के लिए उत्तेजित करते रहते हैं। पर, इन बातों का उस पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना साहित्य के द्वारा। उपन्यासकार कथा के सहारे समस्याओं के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त करता है उनका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। स्पष्ट है कि इस क्रिया में कला का योग है; जिसे हम समस्यामूलक उपन्यास की कला कहते हैं, पर, यहाँ कला प्रधान पद पर आरूढ़ नहीं की जाती उसका तो मात्र सहारा लिया जाता है। इस सहारे से उपन्यासकार के गहरे-से-गहरे विचार टिके रहते हैं और पाठक को अरुचि नहीं होती। वह उसकी टिप्पणियों को ध्यान से पढ़ता है। ऐसे ही उपन्यास समाज को बदलने की क्षमता रखते हैं।

[२]

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार हैं अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। स्वयं प्रेमचन्द अपने को व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार बता गये हैं—

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[1]

---

१. कुछ विचार पृष्ठ ३८

कुछ आलोचक उन्हें सामाजिक उपन्यासकार घोषित करते हैं; जैसे कि उनके उपन्यास मात्र सामाजिक विषयों तक ही सीमित हैं। प्रेमचन्द को, सामाजिक उपन्यासकार मानने पर भी, समस्यामूलक उपन्यासकार की कोटि में रखा जा सकता है। पर "सामाजिक" शब्द प्रेमचन्द की समस्त विशेषताओं का परिचायक नहीं है। उनके उपन्यासों में मात्र सामाजिक समस्याएँ ही नहीं उठाई गई हैं। दूसरे 'सामाजिक' शब्द समस्या की ऐकान्तिकता का सूचक भी नहीं है।

प्रेमचन्द के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास हैं ऐसा मानकर प्रेमचन्द ही नहीं अनेक आलोचक भी चले हैं। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों की यह कसौटी मान ली जाय तो वे साधारण कोटि के उपन्यासकार ठहरते हैं। और जैसा हुआ है, प्रेमचन्द के आलोचकों ने इसी आधार पर उनके उपन्यासों का मूल्यांकन किया है एवं उनके चरित्रांकन की दुर्बलताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

प्रेमचन्द के पात्र जगह-जगह कठपुतली के समान क्रिया-कलाप करते हैं। आलोचकों न शास्त्रीय आलोचना-सिद्धान्तों के आधार पर प्रेमचन्द में यह एक बड़ा दोष बताया है। वास्तव में, बात है भी ऐसी। । यह दोष उस स्थिति में और भी उभर आता है जब स्वयं प्रेमचन्द मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना उपन्यास का मुख्य तत्व बताते हैं।

फिर भी प्रेमचन्द के उपन्यास बड़े लोकप्रिय हैं। विश्व-उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में उनका स्थान है। 'मुख्य तत्व' में दुर्बल होते हुए भी उनके उपन्यास इतने प्रभावशाली कैसे बन गये? वह कौन-सा रहस्य है जो उनकी प्रसिद्धि के लिए उत्तरदायी है। चरित्रांकन की दृष्टि से तो उनमें पर्याप्त दुर्बलताएँ हैं। अतः प्रेमचन्द के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास नहीं कहे जा सकते। उनमें व्यक्ति-चरित्र से भी प्रमुख व बड़ी कोई और ही चीज है। स्पष्ट है, वह चीज उनके उपन्यासों में पाई जाने वाली 'समस्या' है। पाठक 'समस्या' पर अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। अतः अन्य अभावों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। चरित्रांकन की दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी समस्या की उपस्थिति उपन्यास को रोचक बनाए रखती है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में केवल समस्या प्रस्तुत ही नहीं करते वरन् उसका हल भी करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने सदैव ही हल बताया हो। आचार्य विनयमोहन शर्मा के शब्दों में :

"वे समाज-व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सहलाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।"[१]

१. साहित्यावलोकन पृष्ठ १५५

प्रेमचन्द के उपन्यासों के मूल्यांकन की यह दूसरी कसौटी है। इस आधार पर उन्हें समस्यामूलक उपन्यासकार मानकर चला जाता है, जहाँ प्रमुख तत्व समस्या को रखना, व उसका हल प्रस्तुत करना रहता है। उपन्यास के अन्य तत्व गौण रूप में आते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासकार आदर्शवादी या यथार्थवादी होते हैं या जैसे कि प्रेमचन्द थे—आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी हो सकते हैं। वस्तुतः समस्यामूलक उपन्यासकार को यथार्थवादी अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी ही होना चाहिए। आदर्शवादी समस्याओं का कोई व्यावहारिक हल प्रस्तुत कर सकेगा यह विश्वसनीय जरा कम है। समस्यामूलक उपन्यासकार की सफलता उसके व्यावहारिक दृष्टि-कोण पर ही निर्भर करती है।

प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कोई-न-कोई प्रमुख समस्या मिलती है। प्रमुख समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं की झलक भी प्रायः प्रत्येक उपन्यास में विद्यमान है।

'वरदान' प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृति है। इसका रचना-काल १०९२ है, यद्यपि प्रकाशन 'सेवासदन' (१९१६) के बाद हुआ। 'वरदान' के पूर्व प्रेमचन्द ने एक छोटा-सा उपन्यास 'कृष्णा' लिखा था जो इंडियन प्रेस, प्रयाग से छपा था। यह उनके विद्यार्थी-जीवन की रचना है।

'वरदान' यद्यपि १९०२ में लिखा गया; लेकिन 'सेवासदन' के बाद प्रकाशित होने के कारण उसकी प्रारम्भिकता अछूती नहीं ही रह सकी होगी। कृति में आधारभूत परिवर्तन तो, निश्चय ही, नहीं किये जाते; लेकिन इतने समय के अन्तराल के कारण उस पर एक अनुभवी लेखक का हाथ तो अवश्य चला होगा। यह सब होते हुए भी, यह भी मानना पड़ेगा कि इस कार्य में प्रेमचन्द ने कोई विशेष रुचि नहीं ली होगी; क्योंकि इसमें अनेक साधारण भूलें रह गई हैं; यथा इलाहाबाद में ट्रामें चलवाना अथवा थानेदार का एक ही रस्सी से सारे गाँव को बँधवा देना आदि।

प्रश्न यह है कि क्या 'वरदान' समस्यामूलक उपन्यास है? यदि हाँ, तो उसमें कौनसी समस्या प्रमुख है एवं गौण रूप में कौन-कौन-सी समस्याओं का उसमें प्रवेश हुआ है।

कहना न होगा कि 'वरदान' न तो समस्यामूलक उपन्यास है और न उसमें किसी प्रमुख समस्या का ही समावेश किया गया है। वास्तव में, 'वरदान' कथानक-प्रधान उपन्यास है; लेकिन कथानक की दृष्टि से भी वह सफल नहीं है। उसमें घटनाओं का घटाटोप मिलता है। कथा-वस्तु न सजीव है और न सुव्यवस्थित। इसका कारण प्रेमचन्द का समस्या-प्रेम है। 'वरदान' में बीज

रूप में प्रेमचन्द का समस्याओं के प्रति रुझान स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। समस्याओं के प्रति यह रुझान ही 'वरदान' को न तो कथानक की दृष्टि से और न चरित्रांकन की दृष्टि से सफल उपन्यास बनने देता है। इसी कारण कुछ आलोचकों को 'वरदान' "बिलकुल हवा में उड़ता हुआ दीखता है"[१]

डा० रामरतन भटनागर "प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन" में लिखते हैं, "कथा-संगठन और चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टि से 'वरदान' असफल उपन्यास ही कहा जायगा। जिस प्रकार कि प्रेम कहानियों की धूम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में थी, उनसे यह उपन्यास जरा भी भिन्न नहीं है। कथासंगठन शिथिल है और उसमें कलात्मकता को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। स्वयं कथा इतनी लम्बी है कि पाठक ऊब जाते हैं। न कथा-रस का विकास ही सम्भव है, न चरित्रचित्रण का।"[२]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की प्रेम कहानियों में डा० रामरतन भटनागर 'वरदान' की समता बताते हैं और आगे चलकर उसके कथा-शैथिल्य और पाठक के ऊब जाने की बात कहते हैं। यहाँ आलोचक स्वयं अपने मत का खंडन कर देते हैं और उन प्रेम-कहानियों का 'वरदान' से अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। उपर्युक्त काल की प्रेम-कहानियाँ पाठक को उबाती नहीं हैं, जब कि 'वरदान' के कथानक में वह कमजोरी है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी के उपरिलिखित काल जैसी प्रेमकहानियाँ लिखना नहीं चाहते थे। 'वरदान' में तो वे उस परम्परा को तोड़कर एकदम नये क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, जिसके कारण 'वरदान' का कोई रूप स्थिर नहीं हो सका है।

'कथाकार प्रेमचन्द' में श्री मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्र वर्मा लिखते हैं, "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरजन का चरित्र बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ है। उसमें कोई सिर पैर है ही नहीं। प्रताप का चरित्र बहुत कुछ निभा है पर अन्त में जाकर वह भी बिगड़ जाता है।"[३] जब कथावस्तु की दृष्टि से ही 'वरदान' असफल कृति ठहरती है, तब चरित्रचित्रण के क्षेत्र में उसमें कोई महत्त्वपूर्ण बात खोजना दुराशा मात्र है।

'वरदान' मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्ध रखता है। शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' की कथा 'वरदान' से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। मन्मथनाथ गुप्त उपर्युक्त दोनों उपन्यासों के विषय-साम्य पर लिखते हैं, "एक युवक का एक

---

१. मन्मथनाथ गुप्त 'कथाकार प्रेमचंद' पृष्ठ १७७

२. 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन' पृष्ठ ५०-५१

३. 'कथाकार प्रेमचंद' पृष्ठ १६८

युवती से प्रेम होता है। किसी कारण से, सामाजिक कारण से दोनों का विवाह नहीं हो पाता। लड़की का विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। अब इसके बाद क्या जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं, यही इन दोनों पुस्तकों में दिखलाया गया है।"[१]

सामाजिक बाधाओं के कारण प्रताप और विरजन का प्रेम वैवाहिक बन्धनों में नहीं बँध पाता। प्रताप सन्यासी हो जाता है और विरजन दुश्चरित्र युवक कमलाशंकर से ब्याह दी जाती है।

यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से वैवाहिक समस्या सामने आ जाती है। डा० रामरतन भटनागर शरदचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' से तुलना करते समय इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं, "शरतचन्द्र के देवदास और अन्य उपन्यासों में असफल-प्रेम नायक को आवारा और आत्मघाती बना देता है। प्रेमचन्द ने असफल प्रेम का समाज-सेवा और राजनीति-निष्ठा में पर्यावसान किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु समाज हित की दृष्टि से समस्या का प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित किया हल अधिक स्वस्थ है।"[२]

इस कृति में वैवाहिक समस्या की ओर प्रेमचन्द पाठकों का ध्यान, उपन्यास-कला की हत्या करके भी आकर्षित करना चाहते हैं :

"मुंशी जी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।"[३] और आगे चलकर जब विरजन विधवा हो जाती है तब प्रेमचन्द की आँखों के सामने वैधव्य की समस्या नाचने लगती है, कथानक और चरित्र-चित्रण की ओर तो वे ध्यान ही नहीं देते।

इसके अतिरिक्त उन्नीस पृष्ठों में 'कमला के नाम विरजन के पत्र' नामक परिच्छेद का उद्देश्य समझने पर यह बात और स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द ने इन पत्रों का विषय व्यक्तिगत-जीवन नहीं रखा है। पति-पत्नी के पत्र-व्यवहार का कोई रूप उसमें नहीं मिलता। इसके विपरीत उन पत्रों में ग्रामीण-जीवन की समस्याएँ बड़ी प्रमुखता से वर्णित की गई हैं। समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द का रुझान प्रारम्भ से ही था यह इन पत्रों की विषय-सामग्री से भलीभाँति समझा जा सकता है। यही रुझान 'वरदान' में प्रेमचन्द को 'तीसरे दर्जे का उपन्यासकार' बनाती है।

शैक्षणिक पहलू पर भी 'वरदान' में यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण बातें बिखरी हुई हैं।

प्रतिज्ञा का प्रकाशन १९०५–६ में हुआ। 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमा' (१९०४–५)

---

१. 'कथाकार प्रेमचन्द' पृष्ठ १६३-६४
२. प्रेमचन्द आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ ५२
३. वरदान पृष्ठ ४४

का परिवर्द्धित रूप है, जिसका उर्दू में 'हम खुरमा व हमसबाब' नाम से पहले प्रकाशन हो चुका था। 'प्रेमा' का नाम आगे चलकर 'विभव' रखा गया, जिसमें कुछ परिवर्तन भी किये गये। यही उपन्यास परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के पश्चात्, 'प्रतिज्ञा' के नाम से प्रकाशित हुआ। जिसका उर्दू अनुवाद 'बेवा' के नाम से हुआ है।

'प्रतिज्ञा' में विधवाओं, पति-पत्नी के पारिवारिक सम्बन्धों और अछूतों की समस्या पर लिखा गया है।

प्रेमचन्द का दूसरा विवाह श्रीमती शिवरानी देवी से १९०५ में हुआ। सामाजिक दृष्टिकोण से इसे विधवा-विवाह ही कहा जायगा; भले ही शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उसे 'विधवा-विवाह' की संज्ञा न दी जाय। शिवरानी देवी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द-घर में' में लिखती हैं, "मेरी पहली शादी ग्यारहवें साल में हुई थी। वह शादी कब हुई इसकी मुझे खबर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही मैं विधवा हुई। इसलिये मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा। क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं, वह मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।"[1]

प्रथम विवाह के बारे में प्रेमचन्द और शिवरानी देवी का संवाद इस प्रकार है :

"फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा हो गया था। ऊँटगाड़ी से लाना पड़ा। जब हम ऊँटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं उसके लिये तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज्यादा थी। जब मैंने उसकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।"[2]

"वह बदसूरत तो थी ही। उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थी। यह इन्सान को और भी दूर कर देता है।"[3]

"मैंने उनको उनके घर पहुँचा दिया और खुद अपने यहाँ रह गया।"[4]

"मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीबी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह मेरी शादी चाची के पिता ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफसोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री। मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। चाची ने कहा, देखा जायेगा।...

---

१. प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १३
२. वही पृष्ठ ९
३. वही पृष्ठ १०
४. वही पृष्ठ १०

चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं ।. . .अगर बीच में चाची न होतीं तो शायद मेरी उनकी जिन्दगी एक साथ बीत भी जाती ।"[१] यह घटना १९०४ की है । अभिप्राय यह कि इन दिनों प्रेमचन्द का जीवन वैवाहिक गुत्थियों में उलझा हुआ था । पहली पत्नी से न पटने के कारण उसे अकाल 'वैधव्य' के भँवर में छोड़कर प्रेमचन्द अपने भावी-जीवन को सुचारु ढंग से चलाने के लिये दूसरे विवाह की आयोजना करते हैं । इस मनःस्थिति में विधवा की समस्या सबसे प्रखर रूप में उनके सामने थी । वास्तव में विधवा-विवाह विधवाओं की समस्या के हल की दिशा में एक प्रभावशाली कदम है । प्रेमचंद क्योंकि 'विधुर' दशा में थे, उन्होंने विधवा-विवाह का निश्चय किया और आगे चलकर बाल-विधवा शिवरानी देवी से विवाह किया जो सामाजिक दृष्टिकोण से तत्कालीन समाज में एक क्रांतिकारी घटना थी । पहली पत्नी के मायके वे मासिक रुपया भेजते रहे ।

व्यक्तिगत और समाजगत जीवन में विधवा-समस्या का सामना प्रेमचंद को करना पड़ा । इसी समस्या को उन्होंने 'प्रतिज्ञा' में लिया । विधवा-समस्या ही प्रतिज्ञा की प्रमुख समस्या है, यद्यपि इसमें दाम्पत्य-जीवन के अनेक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला है । अछूतों की समस्या को भी प्रस्तुत उपन्यास में स्थान दिया गया है यद्यपि कथा-विकास की दृष्टि से उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, 'सनातन धर्म पर आघात' विषय पर दाननाथ का भाषण अछूतों के संबंध में ही है ।

प्रेमचंद ने 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या को शरतचन्द्र की तरह मात्र प्रस्तुत ही नहीं किया है वरन् उसके निराकरण के लिये उपाय भी प्रस्तुत किये हैं । सामाजिक-सुधार की भावना प्रेमचंद में सबसे अधिक थी । 'प्रतिज्ञा' की समीक्षा निश्चित औपन्यासिक रचनातंत्र के सिद्धान्तों पर नहीं की जा सकती । उसमें विधवाओं के उद्धार की समस्या इतनी प्रधान है कि चरित्रांकन, वस्तु-विन्यास इत्यादि सभी उसी के आश्रित होकर आते हैं ।

'सेवासदन' का रचनाकाल सन् १९१६ है । यह उपन्यास प्रेमचंद की प्रौढ़ रचनाओं में से है । 'सेवासदन' समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें नारी-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित किया गया है, यथा, भारतीय नारी की पराधीनता, दहेज-प्रथा, वेश्या-समाज आदि । नारी-जीवन सम्बन्धी प्रधान-समस्या के अतिरिक्त अन्य पहलुओं पर भी सेवासदन में प्रेमचंद ने विचार किया है जैसे नागरिक-जीवन, किसान आदि ।

---

१. प्रेमचन्द घर में पृष्ठ ११

सुमन 'सेवासदन' की नायिका है। सम्पूर्ण उपन्यास उसी के चरित्र की ओर घूमता है, मुड़ता है। लेकिन 'सेवासदन' में समस्या को प्रधानता दी गई है, चरित्रांकन को नहीं। इसी कारण प्रेमचंद सुमन की मानसिक स्थिति का विश्लेषण नहीं करते। सुमन के चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व प्रेमचंद छोड़ जाते हैं, क्योंकि उनका अभीष्ट भारतीय-नारी की पराधीनता-जनित विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन था न कि व्यक्ति-चरित्र का चित्रण। सुमन का व्यक्तित्व इसीलिये दबा रहता है। वह भारतीय नारी-वर्ग की प्रतीक बनकर उपन्यास में प्रवेश करती है।

'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं, "इस उपन्यास का सबसे कमजोर, शिथिल और असम्बद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों की तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनके तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होता।"[1]

इस विषय पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' नामक पुस्तक में लिखते हैं :

"म्युनिसिपैलिटी की कार्रवाइयाँ, उसकी बहसें और प्रस्ताव आदि सुमन की मुख्य-कथा से अच्छी तरह ग्रथित नहीं हैं, यद्यपि वे उपन्यास में आई हुई वेश्या-सुधार की समस्या से सम्बन्धित अवश्य हैं। यदि म्युनिसिपैलिटी के ये सारे वृतान्त सुमन की कहानी से और अधिक संश्लिष्ट सम्बन्ध रख पाते, तो उपन्यास की कथा अधिक समन्वित और अर्थपूर्ण होती।"[2]

यह प्रसंग ४३ वें परिच्छेद का है। निःसन्देह औपन्यासिक रचनातन्त्र की दृष्टि से इसका समावेश कथानक के विकास में कोई योग नहीं देता। लेकिन प्रेमचन्द औपन्यासिकता के निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के इतने कायल न थे। उपन्यास-कला तो उनके लिए समस्याओं के प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने की साधन मात्र थी। यदि इस प्रसंग का समावेश नहीं किया जाता तो नगर-जीवन की समस्या पर प्रकाश नहीं पड़ पाता, दूसरे वेश्या-समाज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व म्युनिसिपैलिटी का है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य यदि चरित्रवान और कर्मठ हों तो इस सामाजिक कुरीति को दूर करने में बहुत महत्वपूर्ण भाग ले सकते हैं। वेश्या-समस्या पर गम्भीर बहस को रखने में प्रेमचन्द का यही उद्देश्य समझना चाहिये।

इस प्रकार ३१ वें परिच्छेद में उस साधु के भाषण का उद्देश्य भी यही है जो सदन के विवाह के अवसर पर आकस्मिक रूप से प्रवेश करता है।

---

१. कथाकार प्रेमचन्द पृष्ठ २०२

२. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन पृष्ठ २५-२६

'सेवासदन' का महत्व इसलिये और बढ़ जाता है, कि वह हिन्दी का सर्व-प्रथम मौलिक समस्यामूलक उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वह युगान्तर उपस्थित करता है।

'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन सन् १६२२ में हुआ। प्रस्तुत उपन्यास में प्रमुख समस्या 'भूमि समस्या' है। किसान और जमींदार के संघर्ष का चित्रण ही 'प्रेमाश्रम' का केन्द्र बिन्दु है। वर्ग-संघर्ष को इतने यथार्थ रूप में उपस्थित करने वाला यह प्रथम उपन्यास है। 'प्रेमाश्रम' में जहाँ कहीं भी अन्य समस्याओं का उल्लेख है वह सब भूमि-व्यवस्था के उद्घाटन अथवा उसके भयंकर रूप को सामने रखने के निमित्त है। 'प्रेमाश्रम' का राजनीतिक पहलू प्रधान नहीं है। डा० रामरतन भटनागर ने 'प्रेमाश्रम' को हिन्दी का ही नहीं वरन् भारत का पहला राजनीतिक उपन्यास कहा है।[1] राजनीतिक स्वाधीनता भूमि-समस्या का आंशिक हल है। वस्तुतः भूमि-समस्या की नींव में समाज-व्यवस्था एवं आर्थिक पहलू ही प्रमुख है। प्रस्तुत उपन्यास की आत्मा (भूमि-समस्या) को न पहचान कर आलोचकों ने अन्य बातों को प्रधानता दे दी है। 'प्रेमाश्रम' में राजनीति का मात्र पृष्ठभूमि का स्थान है, क्योंकि बिना राजनीतिक चेतना के वर्ग-संघर्ष में तीव्रता नहीं आ सकती। तत्कालीन भारत की राजनीतिक चेतना की भूमिका में 'प्रेमाश्रम' का निर्माण किया गया है, किन्तु उसकी रीढ़ तो भूमि-समस्या ही है। अतः 'प्रेमाश्रम' भी समस्यामूलक उपन्यास है। समस्या या समस्याओं को प्रधानता देने के कारण 'प्रेमाश्रम' का 'कला-पक्ष' कमजोर हो गया है। शास्त्रीय पद्धति को आलोचना का मापदण्ड मानने वाले आलोचकों को उसमें अनेक दोष दिखाई देंगे। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव 'प्रेमाश्रम' के पात्रों के सम्बन्ध में लिखते हैं, "प्रेमाश्रम के सभी पात्रों में हम देखते हैं कि उनके चरित्र पर नवीन घटनाओं की प्रतिक्रिया बहुत होती है। वे मानो बने बनाये पात्र हैं जो अपनी इच्छा-शक्ति से घटनाओं का निर्माण तो करते चलते हैं, परन्तु उसमें बँधते नहीं।"[2] डा० रामविलास शर्मा ने भी इस ओर संकेत किया है, 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के साधारण नियमों को तोड़कर रचा गया है। कौन है इसका नायक, कौन है इसकी नायिका? जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उनके कथानक की शिथिलता दिखलाकर प्रेमचन्द को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचन्द को विश्व साहित्यकार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उत्तर दिया था "आज़ाद रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं।"[3]

---

१. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ ८४
२. हिन्दी-उपन्यास पृष्ठ १०५
३. 'हंस' मई १६३७ पृष्ठ ६१४

बड़े कलाकार अपने कायदे-कानून खुद बनाते हैं। प्रेमचन्द भी कायदे पढ़कर उपन्यास लिखने न बैठते थे। 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की जिन्दगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में जगह न मिलती थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।"[१]

निःसन्देह, प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में शास्त्रीयता को कोई महत्त्व नहीं दिया है। पर, दूसरी ओर यह भी सच है कि उन्होंने कोई नये कायदे-कानून भी नहीं गढ़े। वे तो कथा के माध्यम से अपने समय की विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन करना चाहते थे। 'उपन्यास' उनका एक साधन था। लेकिन आकर्षक कथा के आवेश में आकर उन्होंने मूल समस्या को कहीं भी दृष्टिक्षेप नहीं किया। समस्या ही स्वयं में इतना आकर्षण उत्पन्न कर लेती है कि औपन्यासिक-कला के अन्य तत्व आँखों से ओझल हो जाते हैं। समस्यामूलक उपन्यासकार होने के ही कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों में तथाकथित 'कला' के दर्शन नहीं होते।

'प्रेमाश्रम' में भूमि-समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्याओं को भी सामने रखा गया है। लेकिन उनमें उल्लेखनीय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या ही है। हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष का कोई आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक कारण नहीं है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपना उल्लू सीधा करने के उद्देश्य से इस प्रश्न को जटिल से जटिलतर बनाने के भरसक प्रयत्न किये। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के मूल कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' हिन्दी-साहित्य में तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण लेकर हमारे सामने आता है।

'निर्मला' का रचना-काल सन् १९२३ और प्रकाश-तिथि सन् १९२७ है। 'निर्मला' एक छोटा उपन्यास है, किन्तु समस्या के उद्घाटन और प्रभाव की दृष्टि से प्रेमचन्द के प्रथम-श्रेणी के उपन्यासों में से है। प्रेमचन्द का यह पहला दुखांत उपन्यास है।

कुछ आलोचकों ने 'निर्मला' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कोटि में रखा है, यद्यपि वे उसकी समस्यामूलकता को भी स्वीकार करते हैं। 'निर्मला' की समस्या प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से अधिक स्पष्ट है। डा० रामविलास शर्मा ने 'निर्मला' में मनोविज्ञान को प्रधानता देने वाले समीक्षकों के विचारों का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "कल्याणी और सुधा जैसी नारियाँ हिन्दी-उपन्यासों और नाटकों की उन तमाम महिलाओं से भिन्न हैं जो व्यभिचारी पति के चरणों को आँसुओं से तर कर देती हैं और उसके न्याय का प्रतिकार करने की बात भी नहीं सोचतीं। वे विशेष रूप से शरत् बाबू की देवियों से भिन्न हैं जो अधिकतर अपने

---

१. प्रेमचन्द और उनका युग पृष्ठ ४२-४३

दुख में घुट-घुट कर मरना पसन्द करती हैं लेकिन समाज का खुला विरोध नहीं करतीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में नए ढंग से नारी पात्रों को रच रहे थे जो अन्याय और दुःख सहती हैं; लेकिन उनका विरोध भी करती हैं। यदि नारी धुट-घुट कर मरा करे और सामाजिक रुकावटों का विरोध न करे तो कुछ लोग इसे बहुत गम्भीर मनोविज्ञान समझते हैं। वास्तव में उससे उनके सामन्ती संस्कारों को सन्तोष होता है।"[१]

'निर्मला' की प्रमुख समस्या नारी-समस्या है, जिसके निम्नलिखित चार पहलू हैं––दहेज-प्रथा, दोहाजू से विवाह अथवा वृद्ध-विवाह, विवाहिता नारी की समस्या, और विधवा-समस्या। इन सभी समस्याओं का केन्द्र दहेज-प्रथा अथवा आर्थिक-व्यवस्था है, जिसका नारी की आर्थिक पराधीनता से भी गहरा सम्बन्ध है। सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदले बिना वैवाहिक-समस्या सुलझ नहीं सकती। प्रेमचन्द ने प्रस्तुत उपन्यास में 'सेवासदन' अथवा 'प्रेमाश्रम' की तरह समस्या का हल किसी आश्रम की व्यवस्था करके प्रस्तुत नहीं किया है। 'निर्मला' मध्यवर्गीय हिन्दू-समाज की प्रतिनिधि दलित नारी बनकर हमारे सामने आती है, अतः उसकी समस्या वैयक्तिक नहीं है और न पूर्व की भाँति उसका कोई वैयक्तिक हल ही प्रेमचन्द ने सुझाया है।

'रंगभूमि' का प्रकाशन सन् १९२४–२५ में हुआ। अन्य उपन्यासों की भाँति 'रंगभूमि' में भी अनेक समस्याएँ मिलेंगी। डा० रामरतन भटनागर ने जैसा लिखा है, "वस्तव में 'रंगभूमि' में स्वतंत्रता पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक समस्याएँ आ जाती हैं। ऐसी विशद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की।"[२] 'रंगभूमि' का केन्वस विशाल है इसमें सन्देह नहीं, लेकिन उसमें स्वाधीनता पूर्व भारत की समस्त आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का समावेश है, इस बात में पर्याप्त अति-रंजना है। वास्तव में, 'रंगभूमि' में दो समस्याएँ ही प्रधान हैं। एक तो औद्योगी-करण की समस्या और दूसरी भारतीय रियासतों की समस्या। 'रंगभूमि' में इन दो ही समस्याओं पर प्रेमचन्द की दृष्टि केन्द्रित है। 'रंगभूमि' का समस्त कथानक इन्हीं समस्याओं को आधार बनाकर खड़ा किया गया है। शास्त्रीय पद्धति के आलोचकों को 'रंगभूमि' के कथानक तत्व में दुर्बलताएँ दिखाई देती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'रंगभूमि' की वस्तु विवेचना करते हुए लिखते हैं––

"छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर लम्बे-लम्बे अध्याय लिखे गए हैं जिससे कथावस्तु आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई है। समस्त मुख्य घटनाओं को

---

१. प्रेमचंद और उनका युग पृष्ठ ६०-६१
२. प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ ११२

लेकर प्रस्तुत आकार से आधे में सारा उपन्यास लिखा जा सकता था।"[१] "प्रेमचन्द जी ने कथा-चयन करते हुए इस संयमशीलता को अपने ध्यान में नहीं रक्खा। वे बहुत अनावश्यक रीति से ग्रामीण-घटनाओं का वर्णन करते गए हैं।"[२] लेकिन प्रेमचन्द के लिए ग्रामीण-घटनाओं का वर्णन-विस्तार अनावश्यक नहीं था वरन् वे तो उसे प्रमुख मानकर चले हैं। यदि इन स्थलों को उपन्यास में से निकाल दिया जाय तो उसकी समस्त गरिमा ही जाती रहेगी। प्रेमचन्द का मूल उद्देश्य तो यहीं अन्तर्निहित है।

रंगभूमि सन् २८ के आन्दोलन के पूर्व लिखा गया है अतः उस पर गांधीवादी-दर्शन की स्पष्ट छाप है। असहयोग के आदर्शों की छाया सर्वत्र मिलती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने 'रंगभूमि' पर एक नई दृष्टि' नामक परिच्छेद में एक नई खोज की है। ऐसी वस्तु की खोज जिससे स्वयं लेखक–प्रेमचन्द अनभिज्ञ थे। तर्क के आधार पर श्री मन्मथनाथ गुप्त के विचर स्पष्ट और मानने योग्य हैं, लेकिन उनसे 'रंगभूमि' का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता; क्योंकि प्रेमचन्द की गांधीवाद पर आस्था भंग नहीं हुई थी। वे तो सच्चे हृदय से गांधीवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर रहे थे। प्रेमचन्द में वैचारिक मोड़ का आभास तो काफी आगे चलकर दिखाई देता है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द गांधीवादी दर्शन को 'रंगभूमि' में सफल ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके और इस कारण, श्रद्धा होते हुए भी, अनजान में, अनेक असंगतियों को चित्रित कर गए हैं। सूरदास गांधी के समान अति मानवीय स्तर तक नहीं पहुँच सका है, यद्यपि वह उनके अत्यधिक निकट अवश्य है। उसे गांधी का लघु-संस्करण मानने में तो कोई आपत्ति नहीं ही हो सकती। तो कुछ अनजान में हुई असंगतियों के आधार पर 'रंगभूमि' में यदि कोई आलोचक गांधीवादी-दर्शन की पराजय बताता है तो उसकी बुद्धि की दाद तो दी जा सकती है, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक स्पष्टता के सामने एक दो सूक्ष्म बातें कोई अधिक महत्व नहीं रखतीं, कम-से-कम इतना तो नहीं ही रखतीं कि उपन्यास के आधार को ही उलट कर रख दें। श्री मन्थननाथ गुप्त 'कथाकार प्रेमचंद' में लिखते हैं "जिस जमीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं यदि बचती तो हम कहते कि हाँ आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया। पर प्रेमचंद जी उपन्यास के अन्तिम अध्यायों में यह दिखलाते हैं कि सबके सब गाँव वाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया, कोई कहीं। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गाँव में जाकर बसता है। भैरो कहीं और।

---

१. प्रेमचन्द : साहित्यिक-विवेचन पृष्ठ ७०-७१

२. वही पृष्ठ ७१

मैं यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्रमें बुरी चीज है । नहीं, जैसा कि फिड्रक एंगेल्स ने कहा है 'जोर के साथ लड़ाई के बाद हार होती है वह उतने ही महत्व का तथ्य है जितना कि आसानी से प्राप्त जीत ।' पर, पराजय के बाद यदि लड़ने वाले लोग थक कर बैठ जायें, तो अवश्य ही वह पराजय किसी प्रकार अच्छी चीज नहीं कही जा सकती । यहाँ पराजय का अर्थ यह है कि नए ढंग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है, ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की आवश्यकता नहीं । ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्णवर्ण अग्रदूती मात्र है । ऐसी पराजय होते हुए भी हम कह सकते हैं नैतिक जीत हुई, नैतिक जीत माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत माने ऐसी हार जो जीत की आशा देती है ।"[१] उपर्युक्त तर्क का कोई खंडन नहीं है । 'रंगभूमि' की पराजय स्थूल रूप में जीत की कोई आशा नहीं बँधाती, लेकिन यह सारी पराजय पाठक को, जनता को क्या संदेश देती है ? क्या वह उसको पस्तहिम्मत करती है ? क्या सूरदास का बलिदान आत्म-बल प्रदान नहीं करता ? इन प्रश्नों के उत्तर उपर्युक्त आलोचक की स्थापनाओं के विरुद्ध जाएँगे । अतः 'रंगभूमि' को प्रेमचंद ने गांधीवाद का मखौल उड़ाने के लिए अथवा गांधीवाद की निरर्थकता प्रदर्शित करने के लिए नहीं लिखा है वरन् उस पर पूरी आस्था-श्रद्धा के साथ घटनाओं और चरित्रों को रंग-रूप दिया है । यह अवश्य है कि प्रेमचंद का व्यक्तित्व गांधीवाद के नीचे दब नहीं गया है । गांधीवादी आदर्शवाद और प्रेमचंद-वादी वस्तुवाद दोनों समानान्तर दिखाई देते हैं । अतः 'रंगभूमि' को इसी दृष्टिकोण से परखना वैज्ञानिक होगा और हम लेखक के साथ भी इस प्रकार ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे ।

प्रेमचंद ने अगला उपन्यास 'कायाकल्प' सन् १९२८ में लिखा । प्रस्तुत उपन्यास साधारण कोटि की कृति है । उसे एक सीमा तक प्रगति-विरोधी उपन्यास भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अलौकिक बातों का प्रवेश बहुत है । लेकिन 'काया-कल्प' में केवल अलौकिकता अथवा चमत्कार ही नहीं है, उसमें कथा है एवं और भी पहलू हैं, जो अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं । माना कि घटना-बहुलता के कारण प्रेमचंद इस उपन्यास में समस्याओं की विस्तार से व्याख्या नहीं कर सके हैं फिर भी उनका समावेश अपना पूरा महत्त्व रखता है । 'कायाकल्प' में मोटे रूप में दो प्रकार की समस्याएँ पाई जाती हैं—सामाजिक और चिरंतन । चिरंतन समस्या का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है अतः उसका अस्तित्व उपन्यास को तिलस्मी बना देता है । पूर्व-जन्म पर प्रेमचंद का विश्वास था; इसे स्वीकार नहीं किया

---

१. कथाकार प्रेमचन्द पृष्ठ २९३

जा सकता । पर स्वीकार किया जाय अथवा नहीं जैसा 'कायाकल्प' की कथा से विदित होता है वह प्रेमचंद की पूर्व जन्म सम्बन्धी धारणाओं को व्यक्त करता ही है । इसे एक विरोधाभास भी कहा जा सकता है ।

'कायाकल्प' का सबसे सबल भाग सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है । ये समस्याएँ सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक क्षेत्रों की हैं । सामाजिक क्षेत्र में विवाह और प्रेम की समस्या प्रमुख है । राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं और जागीरदारों की संस्कृति की वास्तविकता का उद्घाटन करना मुख्य लक्ष्य है तथा साम्प्रदायिक क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम समस्या है । इन समस्याओं पर प्रेमचंद के विचार प्रस्तुत उपन्यास में जगह-जगह बिखरे हुए हैं । यदि प्रेमचंद इसमें अलौकिक-कथा का समावेश नहीं करते तो यह उपन्यास भी उत्कृष्ट कोटि का समस्या-प्रधान उपन्यास बन गया होता ।

'गबन' सन् १९३१ के आस-पास लिखा गया और मार्च १९३२ में छपा । पं० नंददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : साहित्यिक-विवेचन' में 'गबन' की समीक्षा करते हुए लिखते हैं : "इसमें प्रेमचंद जी ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को साथ-साथ प्रदर्शित किया है । रमानाथ और जालपा नव-विवाहित दम्पति हैं । रमानाथ जालपा से अत्यधिक प्रेम करता है पर वह उससे अपनी वास्तविक स्थिति को सदैव छिपाता रहता है । वह उपन्यास का मनोवैज्ञानिक प्रेरणा सूत्र है । उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि यह है कि रमानाथ अपनी पत्नी की मन:तुष्टि के लिए अपने सामर्थ्य के बाहर जाकर गहने लाता और ऐसे उपायों का आश्रय लेता है, जो उसे अधिकाधिक कठिन परिस्थितियों में डाल देते हैं ।"[1] 'गबन' में सामाजिक समस्या का स्वरूप तो नि:सन्देह स्पष्ट है; पर उसमें कोई मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है । जिस मनोवैज्ञानिक समस्या की ओर पं० नंददुलारे वाजपेयी जी ने संकेत किया है वह सामाजिक समस्या का ही एक अंग है । डा० रामरतन भटनागर ने इसी बात को कुछ अधिक सुलझे रूप में व्यक्त किया है । "'गबन' प्रेमचंद का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजकि उपन्यासों में श्रेष्ठतम है । हमने इस उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है; परन्तु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का यह रूप एक अत्यन्त व्यापक समस्या का ही अंग है । यह समस्या है वर्ग-गत असन्तुलन । गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं । हमारे इस पूँजीवादी समाज की सारी व्यवस्था वर्ग की विभिन्नता पर ही आश्रित है ।"[2] वास्तव में 'गबन' मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं का उपन्यास है । मध्यवर्गीय परिवारों में जो दिखावा अथवा

---

१. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचना पृष्ठ ११४

२. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ १४१-४२

ढकोसला पाया जाता है वह गबन में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में गहने की समस्या को केन्द्र बनाकर मध्यवर्गीय भारतीय-नारी की समस्या का उद्घाटन किया गया है तथा अन्त में कलकत्ते के वर्णन के प्रसंग में भारतीय स्वाधीनता की समस्या को पूरे मनोयोग से चित्रित किया गया है, अंग्रेजी-शासन में पुलिस के हथकंडों, न्याय की विडम्बनाओं आदि का चित्रण जिसके अन्तर्गत आता है। इस प्रकार 'गबन' की समस्याएँ स्पष्ट हैं। 'गबन' की विशेषता इस बात में भी है कि प्रेमचंद इसमें अपने दृष्टिकोण के अधिक निकट दिखाई देते हैं।

'कर्मभूमि' प्रेमचंद की प्रौढ़ कृति है, इसका रचना-काल सन् ३०-३२ का है। प्रेमचंद जिस आदर्शवाद के घेरे में अभी तक आबद्ध थे उसे तोड़कर अब यथार्थ-भूमि में प्रवेश करते हैं। उनके भावी मोड़ का आभास 'कर्मभूमि' में मिलता है।

कर्मभूमि का कथानक वैविध्य पूर्ण है क्योंकि उसमें कई समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। कथावस्तु के शैथिल्य के सम्बन्ध में श्री मन्थननाथ गुप्त एक स्थल पर लिखते हैं: "स्वयं प्रेमचंद भी शायद कर्मभूमि के कथानक की शिथिलता के सम्बन्ध में परिचित थे। उन्होंने जो अपने ४०० पन्ने के उपन्यास को पाँच-भागों में बाँटा है, इससे इस सम्बन्ध में उनकी सज्ञानता ज़ाहिर होती है।"[1] स्पष्ट है; प्रेमचंद के उपन्यासों में पाई जाने वाली रचनातंत्र सम्बन्धी दुर्बलताएँ सज्ञान हैं। प्रेमचंद उपन्यास के माध्यम से कोई सुन्दर कहानी ही कहना नहीं चाहते थे प्रत्युत तत्कालीन अनेक समस्याओं की ओर भारतीय जनता को जागरूक करना चाहते थे। 'कर्मभूमि' में यदि कथानक शिथिल है तो इससे उसकी महानता पर कोई विशेष विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। 'कर्मभूमि' की श्रेष्ठता अक्षुण्ण ही बनी रहती है।

'कर्मभूमि' की मुख्य समस्या भी स्वाधीनता की समस्या है। अछूतों और किसानों की समस्याएं उसी का ही अंग बनकर आती हैं। शैक्षणिक-समस्या का भी उद्घाटन प्रस्तुत उपन्यास में किया गया है। इस प्रकार 'कर्मभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास कहा जा सकता है।

पं० नंददुलारे वाजपेयी 'कर्मभूमि' के विचार-पक्ष की विवेचना करते हुए लिखते हैं: "विचारों के द्वारा प्रेमचंद जी ने समय का चित्रण तो सफलता से कर दिया, किन्तु पाठक के सम्मुख अधिक योजनाएँ नहीं आतीं, जिन्हें वह भावी आदर्श समाज की पृष्ठ-भूमि मान सके।"[2] स्पष्ट है, उपन्यासकार विचारों के द्वारा समय का चित्रण यदि सफलतापूर्वक कर देता है तो यही उसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। योजनाएं प्रस्तुत करना कोई उसका अनिवार्य तत्व नहीं है। समय-चित्रण

---

१. कथाकार प्रेमचन्द पृष्ठ ४७०
२. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन पृष्ठ ११२

भी अनेक शास्त्रीय सीमाओं को तोड़ कर करना पड़ता है। और यदि योजनाओं का भी उसमें विधिवत् समावेश कर दिया जाये तब तो यह उपन्यास न रहकर समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र का पोथा ही बन जाए। इस प्रकार के आलोचक जहाँ उपन्यास-कला की दुहाई देते हैं, वहाँ योजनाओं की मांग भी करते हैं; यह दृष्टिकोण स्वयं में विरोध लिये हुए है। 'कर्मभूमि' पाठक को सम्बन्धित समस्याओं पर सोचने के लिये विवश करता है। यह विवशता योजना-चित्रण से कहीं अधिक उपयोगी है। पूर्व परम्परा को तोड़कर प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' को अधिक-से-अधिक यथार्थ से जोड़ने का प्रयत्न किया है।

'गोदान' प्रेमचंद का अन्तिम पूर्ण उपन्यास है। इसका रचनाकाल सन् १९३६ है। 'गोदान' में प्रेमचंद का दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है। औपन्यासिक कौशल प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक है; किन्तु शास्त्रीय-पद्धति पर इसे भी नहीं परखा जा सकता।

'गोदान' ग्रामीण जनता का महाकाव्य कहा जाता है। निःसन्देह उसमें ग्रामीण-जनता की विभिन्न समस्याओं पर ही लेखक की दृष्टि केन्द्रित है। वैसे देखा जाय तो 'गोदान' की पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है। उसमें शहरी और ग्रामीण दोनों जीवन का चित्रण है; तथा दोनों की समस्याएँ उसमें समाहित हैं। लेकिन यदि बारीकी से देखा जाय तो शहरी-जीवन का चित्रण ग्रामीण-जीवन से गुँथा हुआ ही नहीं मालूम पड़ता प्रत्युत उसी के हेतु औपन्यासिक कथा में स्थान रखता है—यह भली भाँति लक्षित हो जाता है।

'गोदान' की मुख्य समस्या किसान के सुखी-जीवन की समस्या है। यद्यपि किसान के जीवन के प्रत्येक पहलू पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है फिर भी उसकी ऋण-समस्या ही प्रमुख है। ऋण के बोझ के कारण भारतीय किसान किस तरह पिस जाता है यही 'गोदान' का केन्द्र बिन्दु है। होरी ऐसे ही किसान का प्रतीक है।

'गोदान' में प्रोफेसर मेहता प्रेमचंद के विचारों के वाहक हैं। प्रेमचंद कथा-विकास के साथ-साथ अनेक समस्याओं पर प्रो० मेहता के मुख से लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ भी दिलवाते चलते हैं। यदि प्रेमचंद का उद्देश्य केवल एक किसान की कहानी लिखना ही रहा होता तो कथा-विन्यास में उन स्थलों की कोई आवश्यकता न होती। वास्तव में, वे स्थल 'गोदान' को महाकाव्यत्व तक पहुँचाने में बड़े सहायक होते हैं। प्रेमचंद का व्यक्तित्व 'गोदान' में भी अन्य उपन्यासों की तरह, छाया हुआ है। मात्र कला को, किसी रचना की श्रेष्ठता या सफलता की कसौटी मानने वाला लेखक, इस प्रकार के स्थलों को भूल कर भी न रखता। लेकिन प्रेमचंद का

तो मुख्य उद्देश्य समस्याओं को सामने रखना था; इसीलिए ऐसे स्थलों पर उनकी प्रतिभा विशेष रूप से निखर कर हमारे सामने आती है ।

'मंगलसूत्र' प्रेमचंद का अपूर्ण उपन्यास है । जो उनकी मृत्यु के १०-११ वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ । 'गोदान' में प्रेमचंद यथार्थवादी बन गए हैं । 'मंगलसूत्र' में हम उनके यथार्थवादी रूप का स्पष्ट दर्शन कर सकते थे; किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया । जैसा भी प्रस्तुत उपन्यास सामने आया है उसको देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी प्रमुख समस्या वैवाहिक होती । पुष्पा और संतकुमार के दाम्पत्य-जीवन का असंतोष प्रारम्भिक पृष्ठों में मिलता है । पुष्पा नारी-जाति की स्वतंत्रता और अधिकारों की समर्थक है । वैवाहिक-जीवन से सम्बन्धित विच्छेद का प्रश्न संभवतः इसमें महत्वपूर्ण स्थान रखता; किन्य अपूर्ण कृति पर अटकल या संभावनाओं के आधार पर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में किसी-न-किसी समस्या को प्रमुख स्थान मिला है; अतः उनके प्रायः सभी उपन्यास समस्या-प्रधान अथवा समस्यामलक ठहरते हैं । कथानक के अन्दर समस्याओं का समावेश वे नहीं करते वरन् समस्याओं को उपस्थित करने के लिए कथानक को गढ़ते हैं । चरित्र-चित्रण के लिए उनके उपन्यास नहीं लिखे गये वरन् समस्याओं के उद्घाटन, विकास और हल के हेतु पात्रों का सर्जन तथा चरित्र-चित्रण हुआ है । कथा विकसित करने के लिये वे संवादों को नहीं रखते वरन् समस्याओं का स्वरूप प्रकट करने के लिये पात्रों के मुख से अनेक बातें कहलाते हैं । अतः प्रेमचंद के उपन्यास को समझने के लिये यही वास्तविक आधार है । आधार की ओर ध्यान न देकर यदि कोई आलोचक अन्य मानदण्डों से उनके उपन्यासों की परख करता है तो वह गलत दृष्टिकोण अपनाता है । उसकी आलोचना का निष्कर्ष यही होगा कि प्रेमचंद प्रथम-श्रेणी के उपन्यासकार नहीं हैं; जबकि वे मानव-समुदाय में दिन-पर-दिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं । यदि वे सफल उपन्यासकार नहीं होते तो यह लोकप्रियता मिलना दुर्लभ होती । सच पूछा जाय तो प्रेमचंद के उपन्यास केवल उपन्यास ही नहीं वे उपन्यास से कुछ अधिक हैं ।

प्रेमचंद के उपन्यासों में उठाई गई प्रमुख समस्याओं के इस पर्यवेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके प्रायः सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं । यह तथ्य उनके उपन्यासों की समीक्षा करते समय ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है; अन्यथा प्रेमचंद को समझने में ही हम भूल नहीं करेंगे प्रत्युत उनके उपन्यासों के प्रति भी उचित न्याय नहीं कर पाएँगे ।

प्रेमचंद और अन्य विश्वविख्यात उपन्यासकारों में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जहाँ अन्य प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार चरित्रांकन की कला में अद्वितीय हैं

वहाँ प्रेमचंद समस्या के उपस्थित करने, उसका पूर्णरूपेण उद्घाटन करने और उसका हल सुझाने में अन्यतम हैं। यदि प्रेमचंद के उपन्यासों की परख चरित्रांकन के दृष्टिकोण से की जाएगी तो वे विश्व-विख्यात उपन्यासकारों की प्रथम-श्रेणी में स्थान नहीं पा सकेंगे। इस बात को स्वीकार करने में कोई हीन-भावना का अनुभव हमें नहीं करना चाहिए। चरित्र-चित्रण में, प्रेमचंद, कहानियों में जितने सफल हुए हैं उतने उपन्यास में नहीं। अपवाद रूप में, दो-चार औपन्यासिक पात्रों के सफल चरित्रांकन का उल्लेख कर देने मात्र से उनकी समस्यामूलकता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रेमचंद की औपन्यासिक-कला का सबसे सशक्त पहलू समस्यामूलक तत्व है; जिसके आधार पर हम प्रेमचंद की कृतियों पर गर्व कर सकते हैं और विश्व-साहित्य के सम्मुख उनकी उपादेयता सिद्ध कर सकते हैं।